ISSN 2582-0133

साइकिल

बच्चों का दुमहिया

वर्ष 3 | अंक 1 | मूल्य - 150 ₹

अप्रैल-मई 2020

सिनेमा विशेषांक 2

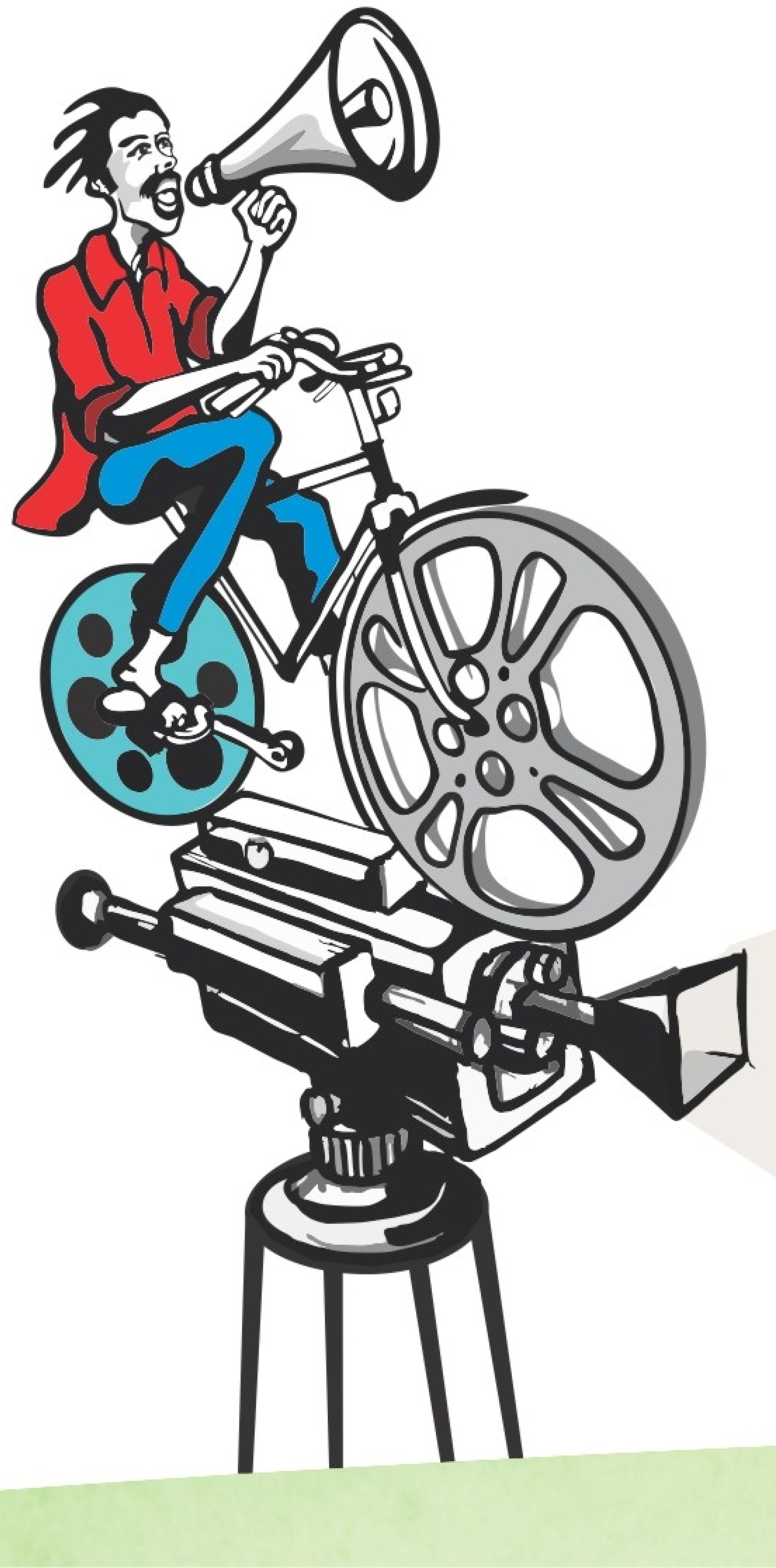


साइकिल

बच्चों का दुमछिया

अप्रैल- मई 2020

अवधि	अंक	सदस्यता दर (पंजीकृत डाक शुल्क सहित)
एक साल	6	रु. 750
दो साल	12	रु.1500
तीन साल	18	रु. 2250
		एक प्रति - रु. 125



भुगतान विवरण - बैंक ड्राफ्ट/चेक
तक्षशिला पब्लिकेशन Takshila Publication के नाम नई दिल्ली में देय
ऑनलाइन ट्रांसफर - एच.डी.एफ.सी. बैंक, डी-23 डिफेंस कॉलोनी, नई दिल्ली
खाता नम्बर 50100067091186, IFSC: HDFC0000134 A
ऑनलाइन खरीद की लिंक www.ektaraindia.in/order-publication/

भुगतान और वितरण की पूरी जानकारी publication@ektaraindia.in/ पर दें।

इकतारा - तक्षशिला का बाल साहित्य एवं कला केन्द्र,
ई-1/212, अरेरा कॉलोनी, भोपाल 462016
0755-2446002/4939472,9109915118, 9630097118
cycle@ektaraindia.in | www.ektaraindia.in



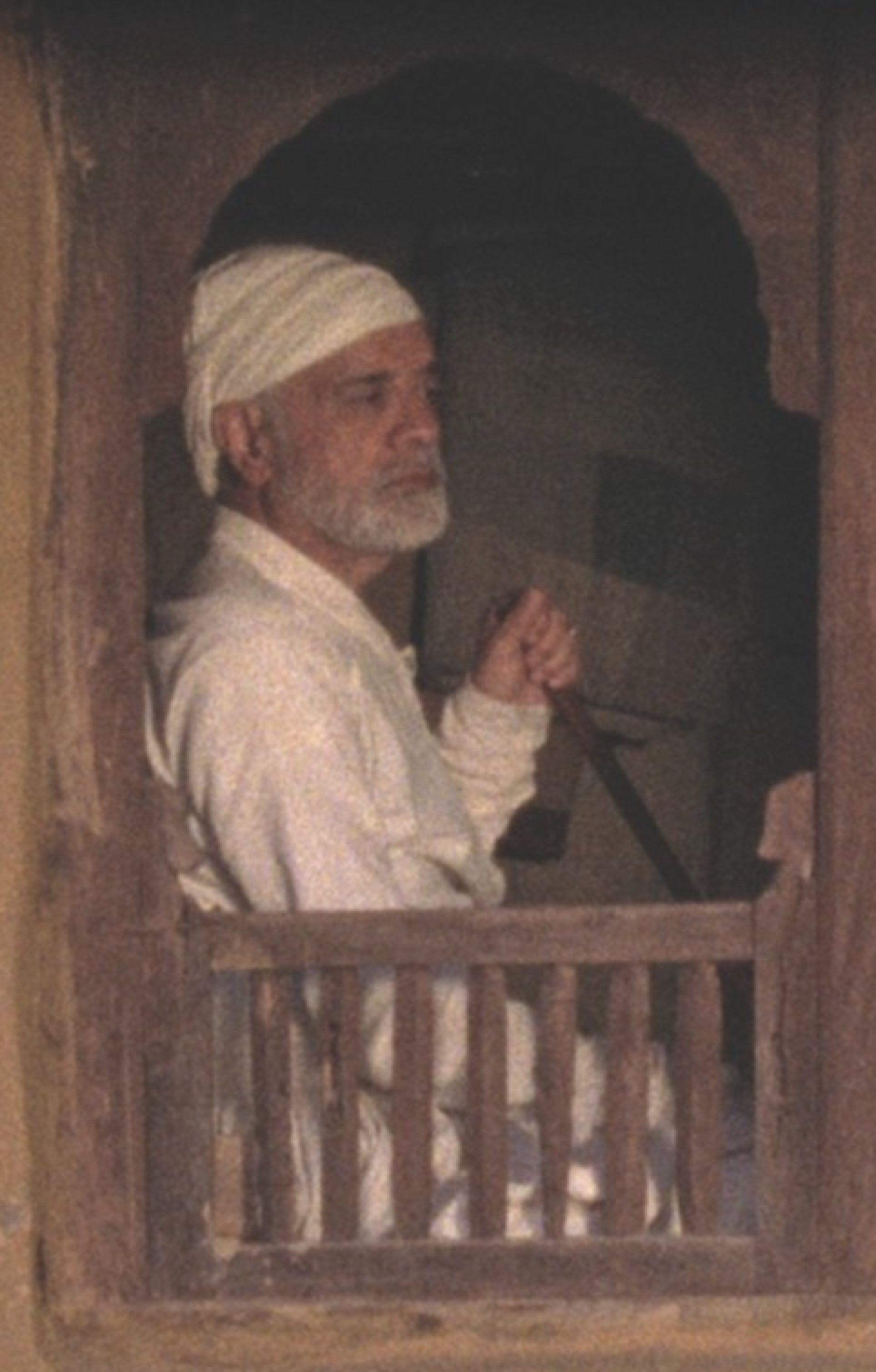
भूल सुधार

सिनेमा अंक-1 (पेज 63) में फिल्म 'आशीर्वाद' का गीत 'रेलगाड़ी छुक छुक...' हरेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने लिखा है।



दृश्य नम्बर 35, जो हम फिल्मा नहीं पाए

अमित दत्ता



सन् 2009 के आसपास की बात है। मैं हिमाचल प्रदेश की काँगड़ा घाटी में घूम रहा था। मकसद था अपनी नई फिल्म के लिए लोकेशन तलाशना। यह फिल्म यहाँ के महान चित्रकार नैनसुख पर थी। नैनसुख यानी आँखों को सुख देने वाला। यह कितना दिलचस्प है कि एक चित्रकार का नाम नैनसुख हो! उनके पिताजी पण्डित सऊ और बड़े भाई मानकू भी महान चित्रकार थे। नैनसुख का जन्म अठारहवीं शताब्दी में काँगड़ा घाटी में गुलेर नामक जगह पर हुआ था। तो स्वाभाविक है कि लोकेशन की तलाश में मैं सबसे पहले गुलेर ही गया।



गुलेर के खण्डहर इत्यादि देख कर लगा कि किसी ज़माने में गुलेर एक समृद्ध रियासत रही होगी। पर अभी तो वो एक छोटा-सा पिछड़ा गाँव ही है। आने से पहले मैंने अठारहवीं शताब्दी के एक यूरोपीय यात्री का यात्रा-वृत्तांत पढ़ा था। वो गुलेर से होके आगे जम्मू-कश्मीर की ओर गया था। उसने अपने वृत्तांत में गुलेर के बारे में दो बातें लिखी थीं। पहली तो यह कि यह एक खुशहाल और साफ-सुथरी जगह थी। यहाँ हर घर के आगे एक छोटा-सा आँगन था जिसमें उसने तरह-तरह के फूल खिले हुए देखे थे। दूसरी यह कि यहाँ हर आदमी ने दाढ़ी रखी हुई थी। पर जब मैं वहाँ पहुँचा तो न तो मुझे कोई दाढ़ी वाला दिखा और न ही किसी आँगन में फूल।



मेरा मन था कि फिल्म में जो नैनसुख का घर हमें दिखाना है वह गुलेर में ही हो। इसके लिए हमें काँगड़ा शैली के मिट्टी के एक पुराने घर की तलाश थी। काँगड़ा के पारम्परिक घरों की बनावट बड़ी खास तरह की होती है। आजकल ऐसे घर विरले ही मिलते हैं। सब ओर काँक्रीट के पक्के घर दिख रहे थे। हम निराश होकर वापिस जा ही रहे थे कि दवाइयों की एक दुकान के पीछे स्लेट की एक पुरानी छत दिखी। पूछने पर पता चला कि उनके आँगन में एक पुराना घर मौजूद है। मैंने तुरन्त अन्दर जाकर वह घर देखा। मैं दंग रह गया। घर सुन्दर तो था ही अच्छी हालत में भी था। यह उनका पुश्तैनी मकान था। मकान मालिक ने बताया कि इसी घर में उनका जन्म हुआ था। कुछ सालों पहले उन्होंने पक्का मकान बनवाने का फैसला किया था। तो उनकी माँ ने इच्छा ज़ाहिर की कि इस पुराने मकान को तोड़ा न जाए। इसलिए उन्होंने इस कच्चे मकान को अपनी माँ की याद में रख छोड़ा है।

घर हमारी कहानी के हिसाब से तो एकदम उपयुक्त था। पर एक समस्या थी - उसके आसपास के सारे घर नए और पक्के थे। यह घर उन पक्के घरों से एकदम घिरा हुआ था। उन आधुनिक पक्के घरों को हम नहीं दिखा सकते थे। तो मैंने तय किया कि अगले दिन मैं अपने कैमरा-मैन के साथ आऊँगा। वापस गेस्ट-हाउस जाकर मैंने उससे इस बारे में लम्बी बात की। तय हुआ कि अगली सुबह पौ फटने से पहले हम वहाँ जाकर मिट्टी के घर का अच्छी तरह से मुआयना करेंगे। हम अगली सुबह का बड़ी बेसब्री से इन्तज़ार करने लगे।

अगले दिन मुँह अँधेरे मैं अपने कैमरा-मैन मृणाल के साथ वहाँ पहुँच गया। मकान मालिक बाहर खड़े दातुन कर रहे थे। हमें इतनी सुबह देखकर वे बड़े हैरान और खुश हुए। हमने उस घर के हर कोने से फोटो लिए। इस बीच मकान मालिक ने हमारे लिए स्वादिष्ट चाय भिजवा दी थी। चाय पीते हुए हमने आसपास के पक्के मकानों की समस्या पर चर्चा की। तब मृणाल ने मुझे जापान के महान फिल्मकार कुरोसावा का एक किस्सा सुनाया। कुरोसावा की ज़्यादातर फिल्में जापान के मध्यकालीन युग को दर्शाती थीं। एक बार किसी पत्रकार ने उनसे पूछा था कि आपने फलाँ दृश्य को जिस





बेहतरीन ऐंगल से दिखाया है उसका विचार आपको आया कहाँ से था? इस पर कुरोसावा ने हँसते हुए जवाब दिया, "जनाब मैं उस दृश्य को उसी कोने से फिल्मा सकता था क्योंकि अगर थोड़ा बाएँ जाता तो टोक्यो का एयर-पोर्ट आ जाता और दाएँ जाता तो वहाँ का सबसे बड़ा शॉपिंग-मॉल।" पास खड़े मकान मालिक भी इस बात पर खूब हँसे। कुरोसावा की इस बात से प्रेरणा लेकर हमने ऐसे ऐंगल बिठाने का फैसला किया कि कोई आधुनिक मकान दृश्य में न आ सके।

फिर हमने घर के भीतर का मुआयना किया। काँगड़ा के पारम्परिक घर मिट्टी के बने होते हैं - छोटे पर दो मंज़िला। नीचे से एक सँकरी मिट्टी की सीढ़ी ऊपर के कमरे में जाती है। इसे स्थानीय भाषा में 'बोड़' कहा जाता है। छत काले पत्थरों की स्लेट से बनी होती है। उनको बाँस व लकड़ी के फ्रेम पर टिकाया जाता है। इनमें से प्रकाश छन कर भीतर आता रहता है। इस घर की बोड़ बड़ी सुन्दर थी। हमने तय किया कि हम वहीं पर नैनसुख और उसके परिवार का कारखाना बनाएँगे। बोड़ में रोशनी ज़रा कम होती है पर बाहर की ओर दो बड़ी सुन्दर नक्काशीदार खिड़कियाँ होती हैं। बस वहीं पर नैनसुख के पिताजी पंडित सऊ का आसान होगा और अन्दर नैनसुख और मानकू बैठेंगे।

यह सब बातें तय करके हम वापस नीचे जाने को हुए तो मकान मालिक ने हमें बोड़ की खिड़कियाँ बन्द करके आने को कहा। खिड़कियाँ बन्द करते ही घुप अँधेरा हो गया। तभी एक चमत्कार हुआ! एक खिड़की में एक छोटा-सा छेद था। उसमें से निकल रही प्रकाश की एक धार सामने की दीवार पर जा टकराई। बाहर आँगन में मकान मालिक की बेटी रस्सी टाप रही थी। वो पूरा दृश्य दीवार पर दिखने लगा। बिलकुल वैसे जैसे हम सिनेमा घरों में देखते हैं - पर उलटा।



मृणाल ने ज़ोर-से कहा, “अरे, लगता है पूरा कमरा ही एक कैमरा-ऑब्सक्यूरा बन गया है।” इस दृश्य को देखते ही हमारे दिमाग के घोड़े तेज़ी-से दौड़ने लगे थे। नैनसुख अठारहवीं शताब्दी के लघु-चित्रकार थे। इन लघु-चित्रों की खास बात यह है कि इनमें पश्चिम के तैल चित्रों की तरह तीन आयामी पर्सपेक्टिव नहीं होता है। दृश्य चपटे और दो आयामी होते हैं। उन्हें देखने और आनन्द लेने का तरीका पश्चिम के चित्रों से अलग होता है। सोचो कि नैनसुख अपने स्टूडियो में अकेला बैठा है। अचानक वो ऐसे खिड़की बन्द करता है जैसे मैंने की। और यकायक बाहर का दृश्य हुबहू सामने वाली दीवार पर अंकित हो जाता है। ऐसे में हमेशा दोआयामी चित्रों के बारे में सोचने वाले पर क्या प्रभाव पड़ेगा! (ऐसे ही तीन आयामी दृश्य से तो सिनेमा का भी जन्म हुआ है)। बस ऐसे दृश्य को वो देख लेता है और उसके आगामी चित्रों पर इस एक दृश्य का प्रभाव दिखने लगता है। उनमें परछाइयाँ इत्यादि आना शुरू हो जाती हैं।

दृश्य जो हमने सोचा

नैनसुख के चित्रों से प्रभावित होकर एक पहाड़ी राजा उसे अपने दरबार में आकर काम करने का न्योता भेजने का मन बनाता है। इस सबसे बेखबर नैनसुख अपनी वर्कशॉप में बैठा काम कर रहा है। काम खत्म करके वह नीचे जाने को होता है। वो रुककर खिड़की बन्द करता है। उसकी खिड़की में एक छोटा-सा छेद होता है जिसमें से प्रकाश की किरणें निकल कर सामने दीवार पर टकराती हैं। जहाँ उसे राजा का एक सिपाही उलटा घोड़े पे बैठा हुआ आता दिखाई देता है। घबरा कर नैनसुख अपनी खिड़की खोल देता है और सामने सिपाही और उसका घोड़ा सीधा खड़े हैं। सिपाही के हाथ में राजा का सन्देशा है।

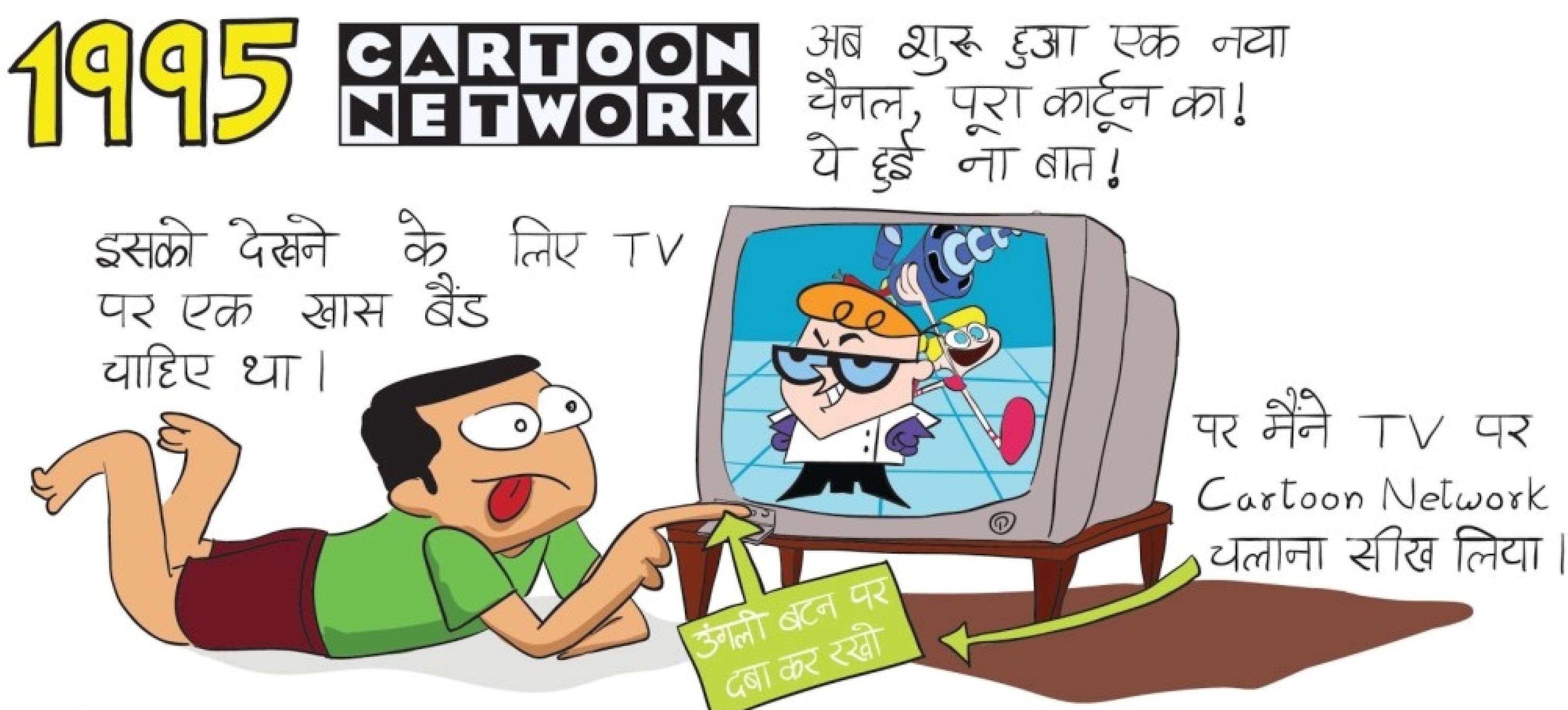
मैंने जब यह दृश्य मृणाल को बताया तो वह खुशी से उछल पड़ा। इस दृश्य को हमने अपनी पटकथा में ज्यों का त्यों शामिल कर लिया ।

कुछ महीनों बाद हमने अपनी फिल्म उस घर में ही शूट की पर हम अपने इस प्रिय दृश्य को फिल्मा नहीं पाए। इस दृश्य को फिल्माना बेहद जटिल व महँगा साबित हो रहा था। हम अपने उत्साह में यह भूल गए थे कि फिल्म बनाने के लिए बहुत पैसों की ज़रूरत होती है। यह एक महँगा माध्यम है। बाद में जब मैंने यह बात अपने फिल्म-एडीटर दोस्त अनुराग को बताई तो उसने हँसते हुए कहा कि कला और कल्पना में दूरी बहुत है। विचारों की फिज़ूलखर्ची को सिनेमा जैसे महँगे माध्यम में कैसे एड्जस्ट किया जाए? सोचने का विषय है।






युगो साको की
कार्टून रामायण
कहानी और कार्टून: सुमित कुमार
मेरे लिए सिनेमा का सबसे बड़ा पल वो था जब मैंने 'युगो साको' की रामायण पहली बार
और यह अति आवश्यक है कि हम अच्छे मानव बनें।
देखी। ये सब शुरू हुआ... 1992 में...
दूरदर्शन
ये वो समय था जब कार्टून सिर्फ दूरदर्शन पर आते थे...
उस समय हम कलकत्ता के एक छोटे से कोने में रहते थे।
मैं हूँ Genie
ना जाने कैसे इसी कोने में एक दिन हम एक फिल्म देखने गए।
उम्र 5 साल



और ऐसे ही एक दिन मुझे एक Ad दिखा...





2002

पापा का ट्रांसफर दिल्ली हो चुका था। अब मैं 10th में था। बोर्ड का साल था लेकिन दिमाग में कार्टून ही घूम रहे थे।


मैंने अखबार में एक Ad देखा।
RAMAYANA
रामायण VCD
120/- Order by SMS 8888
प्लीज़ssss
प्री बोर्ड में 70% ले आओ, और हम तुम्हें दिला देंगे।
मैंने कसम से जान लगा दी।
लक्ष्य का ऋतिक भी मैं
लगान का भुवन भी मैं
धावाssssss
चलो चलो...
आखिरकार 70%
प्री बोर्ड
रामायण
रामायण



मुझे आज भी वो दिन याद है...
OFF
रामायण
VCR
सुमिरन कर ले मनवा...
रामायण
श्री राम का सुखधाम
Indo-Japan
Diplomatic Friendship
राम
मैंने ये फिल्म 1000 बार देखी होगी! फिल्म रोक-रोक कर मैं पात्रों को स्केच करता था।
सबसे मज़ेदार सीन


फिल्म के निर्माता-निर्देशक युगो साको ने रामायण को प्रामाणिक दिखाने के लिए बहुत मेहनत की। वो रिसर्च के लिए बनारस और घाट पे घिसे पत्थरों को घंटों निहारते रहे ताकि रामायण काल के पत्थर सही से दिखा पाएँ।
फिल्म के एनिमेशन डायरेक्टर थे राम मोहन, भारतीय एनिमेशन के जनक।
राम मोहन ने जापानी ऐनिमेटरों से कहा कि 'धोती पहन कर काम करोगे तो और बढ़िया बनेगा।'
आज कल इस फिल्म को जापान में सिनेमा में दिखाया जाता है।
NOW SHOWING
रामायण
ラーマーヤナ ラマ王子伝説
TICKET
और शायद इसी फिल्म की वजह से आज मैं एक कार्टूनिस्ट हूँ।
THE END



मेरी दस पसन्दीदा बच्चों की फिल्में

संजय जोशी

संजय जोशी घुमन्तू सिनेमा के लिए प्रसिद्ध हैं। वे दूरदराज़ के इलाकों में सिनेमा लिए-लिए घूमते हैं। हज़ारों-हज़ार बच्चों और बड़ों ने उनके घुमन्तू सिनेमाघर में फिल्में देखी होंगी। बिना टिकिट। उनका सिनेमाघर अकसर उनकी छोटी-सी कार में रहता है। इसमें एक स्क्रीन, प्रोजेक्टर, एक लैपटॉप रहता है। वे सिनेमा दिखाते हैं। दिखाने के बाद उस पर चर्चा करते हैं। वे सोचते हैं कि सिनेमा का रस और उसकी बात देखने वालों के मन में ज़्यादा गहरे उतर जाए। वे कहते हैं कि सिनेमा का मकसद मनोरंजन भर नहीं है। वह सपने भी दिखाता है। हमारी दुनिया की खूबसूरती ढूँढ लाता है। और हमारी दुनिया की बदसूरती भी हमें बताता है। उसकी समझ बनाता है। वे चौदह साल से इस काम में लगे हैं।

उनकी पसन्दीदा दस बाल फिल्मों के बारे में पढ़ो। मौका लगे तो इन्हें देखना। क्या तुम अपने शहर, कस्बे या गाँव में संजय जोशी का घुमन्तू सिनेमा बुलाना चाहते हो? उन्हें तुम फोन भी कर सकते हो - 9811577426



रेड बलून

यह फिल्म फ्रांस में बनी। 1956 में। इसके निर्देशक हैं अल्बर्ट लेमूरेस्सी। इस फिल्म को बनाने के लिए उनका समूचा परिवार जुट गया।

यह पेरिस के दस साल के पास्कल की कहानी है। पास्कल को एक दिन लाल गुब्बारा मिलता है। पास्कल और लाल गुब्बारा जल्दी ही गहरे दोस्त बन जाते हैं। स्कूल हो, कमरे की खिड़की के बाहर, बेकरी शॉप में, ट्राम में, उसके दोस्तों के बीच...पास्कल जहाँ होता लाल गुब्बारा वहाँ होता ही होता। गुब्बारा अब गुब्बारा नहीं रहा था। पास्कल का दोस्त हो चुका था। एक दृश्य में तो सड़क पर लाल गुब्बारे की भेंट नीले गुब्बारे से होती है। लगता है जैसे दो बिछुड़ी बहनें मिल रही हों।

आखिर में पास्कल अपने इस दोस्त को उसके अपने हमउम्र दोस्तों से बचाने की जी-तोड़ कोशिश करता है। लेकिन उसे बचा नहीं पाता। पत्थरों से गुब्बारा तबाह हो जाता है। लेकिन कहानियाँ कहानियाँ होती हैं। उनमें आशाएँ रखने के लिए जेबें होती हैं। पास्कल इस क्षण अकेला पड़ गया है। निर्देशक ने अकेले पड़ गए पास्कल की तरफ शहर भर के गुब्बारे उड़ा दिए हैं। पास्कल गुब्बारों से घिर गया है और वे उसे एक नई दुनिया में ले जा रहे हैं। 35 मिनट की इस फिल्म में इक्के-दुक्के संवाद हैं।



2 फर्डीनैंड

फर्डीनैंड एक स्पेनी लोककथा है। स्पेन में बुलफाइट या साँडों की लड़ाई बहुत मशहूर है। इसके खिलाफ लोग आवाज़ें भी उठाते रहे हैं। यह लोककथा इसी लड़ाई पर आधारित है। फर्डीनैंड हॉलीवुड की अनोखी फिल्म है। महात्मा गाँधी को यह लोककथा बहुत प्रिय रही है।

इस फिल्म में फर्डीनैंड नाम का एक किशोर बैल है। उसके हमउम्र बैल इसी चर्चा में पड़े रहते हैं कि उनमें से किसका पिता स्पेन का सबसे लड़ाका बैल होगा। उसका हर दोस्त अपने पिता की तरह खूँखार लड़ाका बनना चाहता है। जिस पर पूरा स्पेन नाज़ करेगा। पर फर्डीनैंड अलग है। वह है तो बहुत मज़बूत पर उसे लड़ना गवारा नहीं। उसे फूलों से प्रेम है। उसका मन तितली का मन है। एकदम नाज़ुक। फर्डीनैंड एक बेहद मज़बूत बैल बनकर उभरता है। इसीलिए वह स्पेन की खूँखार लड़ाई के लिए चुन लिया जाता है।

फर्डीनैंड तथा उसके दोस्तों को लड़ाई के लिए तैयार करने के लिए एक बाड़े में रख दिया गया है। फर्डीनैंड खुद को और अपने साथियों को इस बाड़े से निकालने की जुगत में लगा रहता है। बाड़े के एक हिस्से में एक दीवार है। इस पर बुज़ुर्ग बैलों के सिर प्रदर्शित हैं। यानी सब लड़ाके बैलों को इसी तरह लटक जाना है। यह देखकर फर्डीनैंड के साथी मुक्ति के लिए फर्डीनैंड के साथ पूरी तरह आ जाते हैं।

फर्डीनैंड को खूनी लड़ाई के लिए स्टेडियम में लाया जाता है। असंख्य लोग देखने आते हैं। फर्डीनैंड को लड़ाई के लिए उकसाया जाता है। वह उस खूँखार आदमी से हलका प्रतिरोध करता है। इस प्रतिरोध में ही उस खूँखार आदमी की जान पर बन जाती है। तभी फर्डीनैंड को ज़मीन पर पड़ी हुई गुलाब के फूल वाली टहनी दिखती है। वह सब कुछ भूलकर उस गुलाब पर फिदा हो जाता है। उसके इस फिदा होने पर पूरा स्टेडियम भी फिदा हो जाता है। आखिरकार स्पेनी कथा पलटती है। एक नई लोककथा बनती है। एक लोककथा जिसमें घृणा तथा हिंसा के लिए कोई जगह नहीं है।

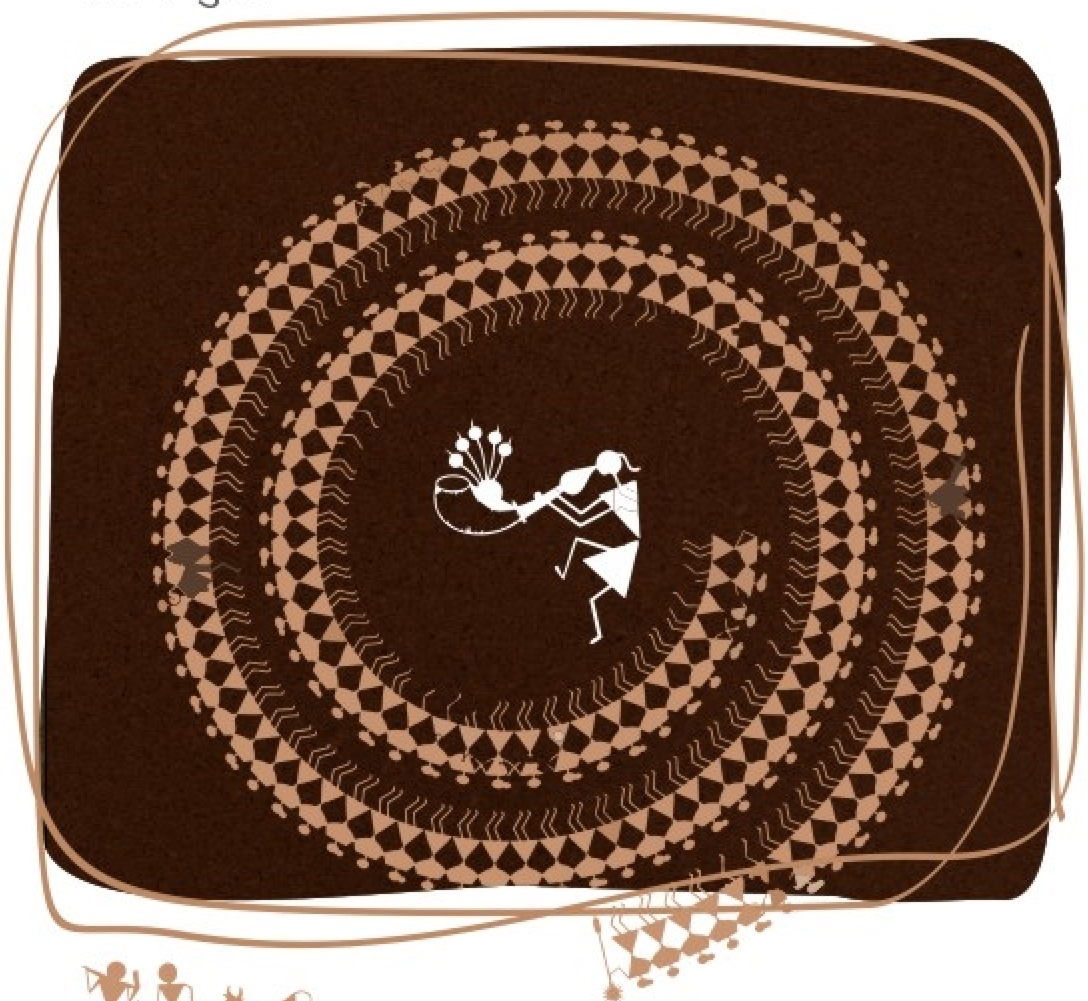
3 ओपन ए डोर

ये सत्रह देशों में खुलते दरवाज़ों की कथा है। इसे बनाने वाली, इंग्लैंड की रैगडॉल मीडिया कम्पनी की स्थापना शिक्षा से जुड़े छह लोगों ने मिलकर की। इन्होंने 2004 में विभिन्न देशों के फिल्मकारों से सम्पर्क किया। उनसे अनुरोध किया कि पाँच मिनट में ऐसी दुनिया बनाएँ जिसमें बच्चा घर के दरवाज़े से बाहर निकलकर जो भी देखे वह दुनिया की खूबसूरती और मिलजुलकर रहने को बढ़ावा दे। इसके तहत बनी फिल्मों का नाम हुआ - ओपन ए डोर इन अफ्रीका, ओपन ए डोर इन मंगोलिया आदि...।

अर्जेंटीना की कहानी सुनते हैं।
एक मध्यवर्गीय अपार्टमेंट की छत है। माँ अपनी बेटी के साथ कपड़े सुखा रही है। छत से नीचे बच्चे पतंग उड़ाते हुए दिख रहे हैं। पहले ढाई मिनट अर्जेंटीना के समाज को दिखाया गया है। बाद में सड़क पर घूम रहे वही बच्चे उस छत पर आ जाते हैं। और उस घर की छोटी-सी लड़की उन सबके साथ पतंग उड़ाती दिखती है। पतंग उस लड़की के पिता की लाल रंग की शर्ट ही है। जो नीले

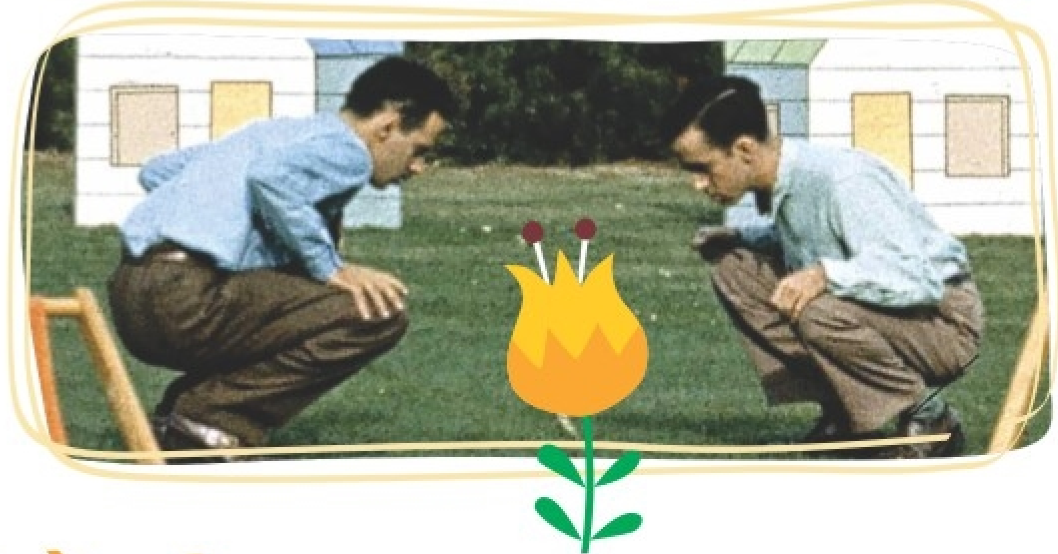


आसमान में उड़ रही है। सड़क पर घूमने वाले बच्चों को आमतौर पर आवारा कहा जाता है। हमारे यहाँ भी। मध्यमवर्गीय परिवारों के घरों में उनके लिए जगह नहीं है। वे वहाँ के बच्चों के साथ खेल नहीं सकते। इस फिल्म ने ऐसे सब बच्चों के लिए सारे घरों के दरवाज़े जैसे खोल दिए हैं। कितने ही बन्द मन भी शायद खुलें।



4 गाँव छोड़ब नाहीं...

यह फिल्म मैंने कहाँ-कहाँ नहीं दिखाई! बच्चों-बड़ों सब को दिखाई। सबने इसे सराहा। देखने वाले को एक थिरकन से भर देती है यह फिल्म। मैंने उनके ज़मीन पर पड़ते पैरों की थाप, थिरक देखी-सुनी है। दक्षिण भारत के प्रमुख फिल्मकार के. पी. ससी ने इस म्यूज़िक वीडियो 'गाँव छोड़ब नाहीं' को बनाया है। यह साढ़े चार मिनट का एक सुरीला गीत है। इसमें आदिवासियों के सवाल हैं। आदिवासियों की लड़ाई है। कि कैसे उनके गाँव, उनके घर, उनके जंगल, उनकी नदियाँ सब पर कब्ज़े कर लिए गए हैं। उन्हें छीन लिया गया है। गाँव नहीं छोड़ेंगे, जंगल नहीं छोड़ेंगे, अपनी माटी नहीं छोड़ेंगे, अपनी ज़मीन नहीं छोड़ेंगे...।



5 नेबर्स ...

आप सबके अड़ोस-पड़ोस में कोई न कोई रहता होगा। हमारे घर के पास वाला घर। जिससे अपने घर में खड़े-खड़े भी बात की जा सकती है। कुछ माँगा जा सकता है। कुछ दिया जा सकता है। जिसे पता चल जाता है कि हमारे घर में क्या पका है। हमारे घर में सुख है कि दुख है। रोज़ के जीवन में पड़ोसी सबसे पहले काम आते हैं। यह ऐसे ही दो पड़ोसियों की कहानी है। कनाडा के मशहूर एनिमेटर नॉर्मन मेक्लेरन की।

मेक्लेरन साहब दुनिया के बड़े एनिमेटरों में से एक हैं। और वे तब काम करते थे जब आज के ज़माने जैसे कुशल कम्प्यूटर न थे। इस कहानी के दो पड़ोसी आराम से अखबार पढ़ते हुए अपने घर के बगीचे में बैठे हैं। तभी उन दोनों के बीच एक फूल उग जाता है। पहले दोनों बारी-बारी से फूल को देखकर खुश होते हैं। गड़बड़ तब शुरू होती है जब दोनों के मन में आता है कि यह फूल है किसका। दोनों उस पर हक जताते हैं। दोनों बताते हैं कि फूल जहाँ उगा है वह उनकी ज़मीन है। और इसलिए फूल पर हक उसका है। लड़ाई इतनी बढ़ती है कि दोनों न सिर्फ एक-दूसरे पर हमला करते हैं बल्कि एक-दूसरे की पत्नी और बच्चे पर भी हाथ उठाते हैं। दोनों लड़ते-लड़ते मर जाते हैं। उनकी कब्र पर एक-एक फूल खिल जाता है।

यही कहानी पड़ोसी देशों के बारे में भी कह सकते हैं। मिल-जुलकर रहने, प्रेम से रहने की बात इतनी सुन्दर तरीके से और कैसे कही जा सकती होगी?



6 ज़ू

चिड़ियाघर या ज़ू शायद आप कभी गए होंगे। वहाँ कितने ही जानवर पिंजरों में बन्द रहते हैं। इस ग्यारह मिनट की फिल्म को यूरोप के फिल्मकार बर्ट हान्स्त्रा ने बुना है। फिल्म में ज़ू के पिंजरों में बन्द तमाम जानवर और उनकी मज़ेदार गतिविधियाँ हैं। उनको देखते बच्चे, जवान और बूढ़े भी हैं। शुरू में फिल्मकार मनुष्यों पर भी थोड़ा समय खर्च करते हैं। फिर मनुष्य और जानवरों की एक जैसी हरकतों को एक के बाद एक पिरोने लगते हैं। सिनेमा का मज़ा तभी समझ में आता है जब हम यह फर्क करना भूल जाते हैं कि हम खुद ज़ू देखने गए हैं या जानवर हमें देख रहे हैं। इस फिल्म को इसकी एडिटिंग के लिए भी देखना चाहिए। फिल्म दुबारा-तिबारा देखकर पता चलेगा कि कैसे सुन्दर एडीटिंग फिल्म में घुलमिल जाती है।



7 सिकन्दर

हमारे देश में बच्चों के लिए फिल्म बनाने की एक संस्था है 'बाल चित्र समिति'। इसने 1985 में ब्लैक एंड व्हाइट फिल्म बनाई 'सिकन्दर'। सई परांजपे ने इसे निर्देशित किया था। यह एक नन्हे पिल्ले सिकन्दर के मिलने और खोने और फिर मिलने की मज़ेदार कहानी है। पाँच बच्चों की एक टोली है। वह अपनी कॉलोनी में खेलकूद में मशगूल है। अचानक पेड़ पर चढ़े हुए उन्हें नीचे एक पिल्ला दिखता है। काले-काले चकत्तों वाला यह पिल्ला जल्द ही पूरे ग्रुप का प्यारा बन जाता है। उसे नाम दिया जाता है - सिकन्दर। अब समस्या है कि सिकन्दर रहेगा कहाँ? सभी बच्चों के मम्मी-पापा इसे रखने के सवाल पर टालमटोल करते हैं। काफी ना नुकुर के बाद एक घर में सिकन्दर को जगह मिलती है। अब दिन रात सिकन्दर सबके दिल में छाया हुआ है। कोई उसके लिए खाना लाता है, कोई कपड़े।

सिकन्दर एक दिन गायब हो जाता है। बच्चों की टोली उसे खोजने निकलती है। खोजते-खोजते बच्चे एक बदमाश के चक्कर में पड़ जाते हैं। वो बदमाश से डर जाते हैं। हालाँकि बदमाश बदमाश है नहीं। उसे भी बच्चों से प्रेम है। वह भी बच्चों का मददगार साबित होता है। आखिरकार बच्चों को अपना प्यारा सिकन्दर मिल जाता है। हम सबके जीवन में कोई न कोई सिकन्दर आता है। एक प्यारा-सा दोस्त। तुम्हें अपना दोस्त कैसे मिला?



4 चिल्ड्रेन ऑफ हैवन

तुम सब ईरान के बारे में जानते होगे! एक बहुत पुराना देश। बच्चों की बेहतरीन किताबें उनके यहाँ बनती हैं। बहुत सुन्दर कालीन बनाए जाते हैं। उनका केसर और दूसरे मसाले बहुत अच्छे होते हैं। और उनके सिनेमा की धूम दुनिया में मची रहती है।

ईरान के एक मशहूर फिल्मकार हैं - माजिद मजीदी। वे एकदम आम लोगों की कहानी कहते हैं। कोई शोर-शराबा या बहुत नाटकीय बात नहीं। उनकी फिल्म देखने वालों को लगता रहता है कि अरे, ये तो मेरी ही कहानी है। या मेरी देखी कहानी है। 'चिल्ड्रेन ऑफ हैवन' (जन्नत के बच्चे) उन्हीं की बनाई फिल्म है। यह दस-बारह साल की उम्र के एक भाई-बहन की कहानी है। बहन छोटी है। शायद पाँचवीं में पढ़ती होगी। उसका नाम है ज़हरा। अली शायद सातवीं में पढ़ता होगा। एक दिन अली घर के लिए सब्ज़ी-रोटी खरीदने निकलता है। उसे बहन ज़हरा के जूतों की मरम्मत भी करवानी है। जब वह टमाटर चुन रहा होता है तभी कूड़ा बीनने वाला बूढ़ा आदमी दूसरे पटरे पर रखे ज़हरा के जूते के काले थैले को कूड़ा समझ उठा लेता है।

अली को ज़हरा का जूता नहीं मिलता। दोनों के स्कूल का समय अलग-अलग है। जब अली स्कूल से लौटता है तब ज़हरा बीच रास्ते में उसका जूता पहनकर स्कूल जाती है। दोनों इस बात को अपने अम्मी-अब्बू से छुपाते हैं। शायद इसलिए कि अली को डाँट न पड़े और शायद इसलिए भी कि वे गरीब हैं। नए जूते खरीदने के लिए पैसे नहीं हैं।

एक दिन अली के स्कूल में एक ईनामी दौड़ की घोषणा होती है। किसी तरह अली इसमें अपना नाम लिखवा लेता है। इस दौड़ में तीसरे स्थान पर रहने वाले को एक शानदार जूता मिलने वाला है। दौड़ का दिन आता है और अली दौड़ जीत जाता है। अली को उसके स्कूल के पी.टी. टीचर और प्रिंसिपल खुशी से अपने कन्धों पर उठा लेते हैं। लेकिन अली तो रोए ही जा रहा है। क्योंकि वह पहले नम्बर पर नहीं तीसरे नम्बर पर आना चाहता था। तुम जानते ही हो कि क्यों?

दौड़ हो गई है। सब अपने घरों को लौट गए हैं। ज़हरा उदास है। फिल्म में आखिर में उनके अब्बू अपनी साइकिल के साथ एक जोड़ी नए जूते के साथ दाखिल होते दिखते हैं। इस तरह ज़हरा और अली ही नहीं हम सब भी खुश होते हैं। कि जैसे देखने वाले सब नंगे पाँव घर जाने से बच गए हों..।



9 स्टोरी ऑफ स्टफ

हम जो कुछ भी खाते-पीते हैं वह आता कहाँ से हैं? चला कहाँ जाता है? सारा सामान। कौन पैदा करता है उन्हें? इसे जानकर हम अपनी दुनिया को ठीक से जान सकते हैं। दुनिया में सबको ये चीज़ें हासिल नहीं हैं। शायद हम ऊपर वाले दो सवालों के जवाब तलाशेंगे तो हमें पता चलेगा कि कैसे कोई चीज़ किसी को मिल जाती है, किसी को नहीं मिलती। एक सुन्दर दुनिया में सब चीज़ें सबके लिए उपलब्ध होंगी। इन सवालों के जवाब सब अपनी-अपनी तरह से ढूँढते हैं। और इस तरह सब एक सुन्दर दुनिया बनाने के सपने को अपनी-अपनी तरह पूरा करते चलते हैं।

20 मिनट की यह फिल्म मूलत: एक अमरीकी समूह 'स्टोरी ऑफ स्टफ प्रोजेक्ट' ने अँग्रेज़ी में बनाई। आज यह फिल्म कई भाषाओं में आ गई है। इस फिल्म को 4 करोड़ से भी ज़्यादा लोगों ने देखा है।

10 आई एम जम्पिंग ओवर पडल्स अगेन

1971 में यूरोप के एक देश चेकोस्लाविया में कारेल ने 91 मिनट की एक बहुत अच्छी फिल्म बनाई। हिन्दी में उसका नाम हम इस तरह समझ सकते हैं - मैं फिर से पोखर में कूदूँगा। यह एक छोटे लड़के की कहानी है। उसके गाँव में सब लोग घोड़ों के अस्तबल में काम करते हैं। घोड़ों की सेवा टहल करते हैं।
इस लड़के को भी घोड़ों के साथ समय बिताना अच्छा लगता है। वह खुद घुड़सवार बनना चाहता है। उसके दोस्तों की मंडली बहुत शैतान है। उनका गाँव भी बहुत खूबसूरत है। वहाँ छोटे-छोटे पोखर हैं। उन पर छोटी-सी लकड़ी की पुलिया है। एक दिन यह शैतान मंडली गुलेल से बड़ों लोगों पर निशाना साधती है। एक अंकल को बहुत ज़ोर की चोट लग जाती है। सारे बच्चे भाग जाते हैं लेकिन हमारा नन्हा घुड़सवार भाग नहीं पाता। वो डर के मारे पुलिया के नीचे पानी में पैर डाल छिप जाता है। बस यहीं गड़बड़ हो जाती है। पानी में देर तक छिपने के कारण उसकी तबीयत खराब हो जाती है। और पता चलता है कि उसके पैर खराब हो गए हैं।
उसे अस्पताल में भरती कराया जाता है। वहाँ उसके बिस्तर पर लकड़ी का घोड़ा पड़ा होता है। उसे घुड़सवार ही होना था पर उसके तो पैर खराब हो चुके थे। पर वह अपनी धुन का पूरा पक्का था।
उसे एक छोटी तिपहिया साइकिल मिल जाती है। वह इस साइकिल से ही घुड़सवारी की हसरत पूरा करता है। वह इस साइकिल की सवारी का लालच दे-देकर अकसर घोड़े पर बैठता है। घुड़सवारी का अभ्यास करता है। और एक दिन घोड़े पर बैठा हुआ हवा से बातें करता गाँव में प्रवेश करता है। यह तो थी फिल्म की कहानी। लेकिन फिल्म सिर्फ कहानी ही तो नहीं होती। इसलिए कहानी जानकर फिल्म को ठीक से नहीं जाना जा सकता है। फिल्म को देखकर ही जाना जा सकता है।





दो फिल्में

राज कुमारी

टर्टल्स कैन फ्लाय

'टर्टल्स कैन फ्लाय' (कछुए उड़ सकते हैं) कुर्दिस्तान के एक रिफ्यूजी कैम्प के बच्चों की कहानी है। कुर्दिस्तान इराक और तुर्की बॉर्डर पर स्थित कुर्द समुदाय का ऐतिहासिक प्रान्त है। फिल्म की कहानी 2003 में शुरू होती है जब कुर्द लोग इराक पर अमेरिकी हमले का इन्तज़ार कर रहे हैं ताकि इराक के तानाशाह सद्दाम हुसैन से उनको छुट्टी मिले।

रिफ्यूजी कैम्प के अनाथ बच्चे अपने जीवन यापन के लिए आसपास के इलाकों में बिछी बारुदी सुरंग निकाल कर उन्हें बाज़ार में बेचते हैं। इस खतरनाक काम को करते हुए और युद्ध और डर की छाया में जी कर भी वो खेलना, मुस्कराना और मज़े करना नहीं भूलते।

शोले

'शोले' एक सीधी-सादी बदले की कहानी है। डाकू गब्बर सिंह पुलिस अफसर ठाकुर बलदेव सिंह के परिवार की हत्या कर देता है और गब्बर को ज़िन्दा पकड़ने के लिए ठाकुर दो पुराने चोरों जय और वीरू को अपने पास बुलाता है।

पर शोले यादगार फिल्म है क्योंकि इस बदले की कहानी से बढ़कर यह इन दो ज़िन्दादिल चोरों की दोस्ती की कहानी है। जय बर्फ है तो वीरू अँगीठी, जय छड़ी है तो वीरू जलेबी। एक-दूसरे के विपरीत होकर भी उनकी दोस्ती मज़ेदार और सच्ची है।



टर्टल्स कैन फ्लाय







नैरेशन नाम की चिड़िया



वरुण ग्रोवर
चित्र: एलन शॉ

फिल्म बनने की प्रक्रिया का एक रहस्यमयी हिस्सा होता है 'नैरेशन'। इसके बारे में बात बहुत कम होती है क्योंकि ये मामला है ही थोड़ा विचित्र। जब से बोलने वाली फिल्में शुरू हुई हैं (भारत में पहली बोलने वाली फिल्म यानी टॉकी थी 'आलम आरा', 1931 में) तब से नैरेशन का चलन है। सीधा अनुवाद करें तो नैरेशन का मतलब है 'सुनाना' या 'वर्णन देना'।



तो होता यूँ है कि जब भी फिल्म के लेखक और निर्देशक मिल कर एक पटकथा तैयार कर लेते हैं (जो ज़्यादातर 100-120 पन्नों की एक छोटी-सी किताब जैसी होती है और 'स्क्रिप्ट' कहलाती है), तो अगला कदम होता है फिल्म के मुख्य अभिनेता-अभिनेत्री चुनने का। अब आसान तो ये होता कि "हमने लिख दी है, आप पढ़ लीजिए" कह कर यह स्क्रिप्ट बड़े सितारों को भेज दी जाती। और वो पढ़ कर बताते कि उन्हें इस फिल्म में काम करने में मज़ा आएगा या नहीं। लेकिन अधिकतर मामलों में बड़े सितारे 'नैरेशन' माँगते हैं। यानी आप उनके पास जाएँ और पूरी स्क्रिप्ट, भाव-भंगिमा सहित उन्हें पढ़ कर सुनाएँ। किस्सागोई करें, कथा बाँचें, किरदारों का वर्णन करके कहीं-कहीं साउण्ड इफेक्ट वगैरह भी डाल दें। जैसे, "घोड़े टगबग टगबग दौड़ रहे थे" या फिर वो कार "साएँ" से निकली और "धाएँ" से गोली चली आदि। और इस तरह पूरा एक माहौल पेश करें।



एक तरह से ये 'नैरेशन' अपने आप में एक कला बन गई है। कुछ लेखक हैं जो बड़े मज़ेदार नैरेशन करते हैं - किरदार रो रहा हो तो वो भी रोने लगते हैं और इतने दिल से सुनाते हैं कि सुनने वाला भी रो उठता है। लेकिन कुछ बेचारे लेखक ऐसे भी हैं जो लिखते तो गज़ब का हैं लेकिन सुनाने में उतना असर नहीं ला पाते। और किसी बड़े सितारे के सामने बैठ कर अदाकारी करते हुए सुनाना कोई आसान काम भी नहीं। सोचिए, आप अमिताभ बच्चन के सामने बैठके अदाकारी करने की कोशिश कर रहे हों तो खुद को ही थोड़ी शर्म आ जाएगी ना!



इसलिए बहुत से लेखक ऐसे हैं जो उसूलन नैरेशन नहीं करते। उनका मानना है कि हमारा काम लिखना है और हमने ऐसा लिख दिया है कि बिना सुनाए भी, खुद पढ़के आपको यथा-स्थिति रोना या हँसना सब आ जाएगा ।
लेकिन सच यही है कि ऐसे क्रान्तिकारी लेखकों की तादाद बहुत कम है और नैरेशन एक फिल्म लेखक के जीवन का अभिन्न हिस्सा है। एक ही स्क्रिप्ट का अकसर बीस-पच्चीस बार नैरेशन देना पड़ता है, वो भी अलग अलग एक्टरों को। और जब फिल्म के अभिनेता-अभिनेत्री सब तय हो जाते हैं तब फिल्म के बाकी कलाकारों (सिनेमेटोग्राफर, एडिटर, प्रोडक्शन डिज़ाइनर वगैरह) को भी नैरेशन देना पड़ता है ताकि भावों की एक ही कश्ती में सब साथ सफर शुरू कर सकें।



एक नैरेशन करीबन तीन घण्टे चलता है - मतलब सुनाने वाले को तीन घण्टे तक लगातार बोलते रहना पड़ता है, वो भी पूरे जोश के साथ। हिसाब लगाएँ तो अन्दाज़न साठ-सत्तर घण्टों का नैरेशन हर स्क्रिप्ट का देना पड़ता है। मशहूर लेखक कादर खान ने सौ से अधिक फिल्में लिखी थीं - तो सोचिए उन्होंने कितने घण्टे नैरेशन दिए होंगे!
लेकिन नैरेशन का एक फायदा है जो हर लेखक मानता है। सुनाते समय खुद ही अपनी स्क्रिप्ट की बहुत-सी कमियाँ नज़र आने लगती हैं। खासकर जब सम्वाद ऊँची आवाज़ में बोले जाते हैं तो उनका असर, लय और अलग-अलग किरदारों के खास अन्दाज़ समझ आने लगते हैं। वरना तो लेखक अकेले कमरे में बैठ कर ही सारा काम करते हैं। नैरेशन की इस रस्म की बदौलत उन्हें भी बाहर की दुनिया से सीधा सम्पर्क करने का मौका मिलता है और अपने लिखे पर तुरन्त ही एक फीडबैक भी।







सड़क पर सिनेमा

राजेश जोशी | चित्र: एलन शॉ

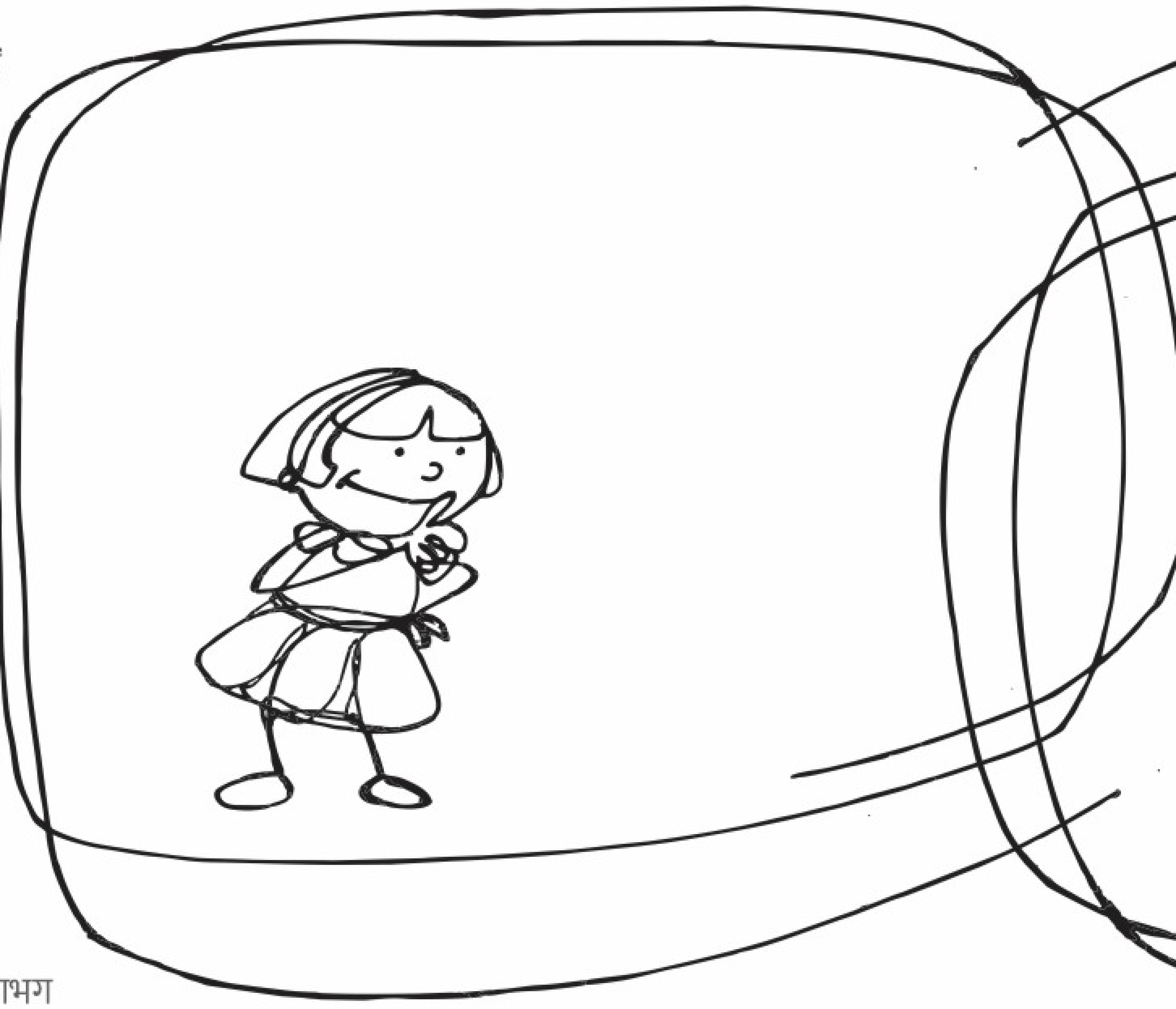
हमारे बचपन के ये स्याह-सफेद फिल्मों के दिन थे। कल्पना के घोड़े इनमें भी सभी रंग दिखा देते थे। टॉकीज़ में फिल्म देखने के मौके तो कभी-कभार ही आते थे। बाऊजी फिल्म देखने के बहुत शौकीन नहीं थे। कभी किसी धार्मिक फिल्म की बहुत चर्चा होती, तब अम्मा के बहुत कहने पर बाऊजी तैयार होते। एक फिल्म थी चक्रधारी। चमत्कारों से भरी हुई। हनुमानजी जब उड़ते हुए दिखते तो सिनेमा हॉल तालियों से गड़गड़ा जाता। चक्रधारी में भगवान अपने भक्त के सारे काम कर देते थे। चाकू अपने-आप सारी सब्ज़ी काट देता। खाने की थाली अपने आप सरकती हुई आती। उसमें कटोरी-चम्मच अपने आप जम जातीं। खाना भी अपने आप लग जाता।

कुछ बड़े हुए तो फिल्मों की हमारी रुचि बदलने लगी। ‘हीरा-मोती’, ‘दो बीघा ज़मीन’, ‘जागृति’ जैसी कुछ फिल्मों की हल्की-सी झलक मन में अब भी मौजूद है। सड़क पर सिनेमा देखने का मज़ा अलग था। वहाँ न दीवारें थीं, न दरवाज़ा। न बैठने के लिए कुर्सियाँ थीं। जगह देखकर जहाँ ठस सको, वहाँ बैठ जाओ। कभी पास के किसी घर की मुंडेर पर जगह मिल जाती तो दोस्त कहते, “आज तो बालकनी में जगह मिल गई।” गणेश उत्सवों में झाँकियों में एक न एक दिन फिल्म दिखाई जाती। हम चक्कर मारते और पता लगाते कि आज कौन-सी झाँकी में कौन-सी फिल्म दिखाई जाएगी। फिल्म से पहले एक तरफ कुछ ऊँचाई पर लगभग 35 एम एम वाला पर्दा बाँध दिया जाता। उससे कुछ दूर ऊँची-सी टेबिल पर फिल्म दिखाने वाली मशीन रखी होती। रील के बड़े-बड़े चक्के एक तरफ रखे रहते। हवा चलती तो पर्दा हिलता और सारी फिल्म लहराने लगती। सड़क पर चलने वाली फिल्मों में एक ही फिल्म कई-कई बार देखना होता।



एक फिल्म की यादें

अरुण कमल | चित्र : एलन शॉ



जिस पहली फिल्म की स्याह-सफेद यादें आज भी बची हैं वो फिल्म है 'मासूम'। इसका गाना 'नानी तेरी मोरनी को मोर ले गए' मैं लम्बे समय तक गाता-गुनगुनाता रहा। मेरा पोता और नतिनी भी आज शौक से इसे गा रहे हैं। बहुत धुँधली-सी याद है उस फिल्म के दृश्यों की। शायद एक गरीब लड़का था और उसकी बहन। लड़का कुछ चुरा कर भागता है। बस इतना याद पड़ता है। आज हमारे चारों तरफ लगातार इतने रंग-बिरंगे चलते हुए चित्र हैं। टेलिविज़न के सैकड़ों चैनल से लेकर मोबाइल के सेल्फियों तक। ऐसे में हम सोच भी नहीं सकते कि बड़े, ऊँची छत वाले अँधेरे हॉल में बड़े उजले परदे पर अचानक तस्वीरें चलने लगतीं तो कैसा लगता होगा। पूरा हॉल बड़ी आवाज़ों और संगीत से गूँजने लगता। कौतूहल होता। ये लोग, ये चीज़ें, चलते-दौड़ते कहाँ से आ गए और कहाँ चले गए। सब कुछ सच लगता और जादुई, परीलोक जैसा भी। उस ज़माने में, आज से लगभग साठ साल पहले अपनी दादी के साथ मैंने गया शहर के भारत टॉकीज़ में फिल्म 'मासूम' देखी। बोलती हुई, ब्लैक एंड व्हाइट फिल्म। घर आकर कई रोज़ तक मैं उसी दुनिया में बसा और खोया रहा। तब सिनेमा हॉल में चल रही फिल्म के गानों की किताब भी बिका करती थी। मैंने उसे खरीदा। वो तब तक साथ रही जब तक फट न गई।



इस फिल्म में 'नानी तेरी मोरनी' गाती हुई ठुमकती हुई वो बच्ची अब भी याद है। गाना एक बच्ची की ही आवाज़ में है। हर बच्चे को यह अपनी आवाज़ लगती है शायद इसीलिए तुरत बाँध लेती है। यह गाना किसी लोकगीत की तरह लगता है। यहाँ नानी भी है जिससे यह गीत

अपने घर-परिवार का लगता है। और नानी के साथ चुहल भी - ‘जल्दी से इक पइसा दे दे तू कंजूसी छोड़ दे।’ मोर है, मोरनी है, चोर भी है, थानेदार और जंगल भी। पर आज सोचता हूँ - चोर काले क्यों बनाए



गए? इस तरह हमारे मन में कोई बात बैठा दी जाती है। मेरा वश चले तो इसे बदल दूँ। लेकिन बच्ची की कच्ची, हरी आवाज़ मेरा मन मोह लेती है। और बोलने जैसे वाक्य ऐसी भाषा में हैं जो अभी सीखी ही जा रही है। यहाँ शब्द, वाक्य और बोलना और लहजा ज़्यादा उभरते हैं। संगीत बस सहारा देता रहता है।

दूसरा गीत आज तक मेरे कंठ और दिल में बसा है - 'इंसाफ की डगर पे, बच्चो दिखाओ चल के’ (गंगा जमुना)। इस गीत के बोल और भाव ने मेरे जीवन को गहराई से प्रभावित किया। इंसाफ का अपने-पराए के भेद से परे होना, देशप्रेम, देश और समाज में न्याय तथा पूरे संसार को बदल कर बेहतर बनाना। आज भी यह गीत सुनते या गाते हुए मेरा गला भर जाता है। हमारे बचपन के आदर्श आज कहाँ खो गए? लेकिन यह गीत तो आज के बच्चों के लिए भी है। सबके लिए है। फिल्म में यह गीत एक कक्षा में शिक्षक गा रहे हैं, शायद। भारी, दानेदार, भीतर से निकलती हुई भीगी हुई आवाज़ मेरी उँगली पकड़े मुझे बहुत दूर ले जाती है। एक सुदूर स्वप्नलोक में जहाँ सब प्रेम से रहेंगे। यहाँ भी संगीत मद्धिम है और समवेत स्वर का भी व्यवहार है। ‘जीवन नया मिलेगा अन्तिम चिता में जल के’ - उत्सर्ग और बलिदान का भाव जिसके बिना कोई भी बदलाव सम्भव नहीं। बचपन के वे गीत, कविताएँ, कहानियाँ, फिल्में लगातार हमारे साथ चलती हैं और बिना हमें बताए हमारे जीवन को गढ़ती रहती हैं।

याद आता है कि ‘मासूम’ के शुरू में जवाहरलाल नेहरू की आवाज़ में कोई सन्देश भी था। क्या था यह याद नहीं लेकिन पूरे परदे पर नेहरू जी को देखने और सुनने का वह रोमांच आज भी मेरे साथ है। और यह भी याद है कि फिल्म खत्म होने पर हॉल से बाहर सबसे अन्त में निकलने वाला मैं ही था - अपनी दादी का हाथ पकड़े।





ये कैसा लग रहा है?

वरुण ग्रोवर | चित्र: एलन शॉ

किसी भी रचनात्मक काम में जो वाक्य सबसे ज़्यादा सुनने को मिलता है वो यही है, “तो ये कैसा लग रहा है?” शायद इसलिए क्योंकि रचनाकारों को बड़ी शंकाएँ होती हैं। उन्हें कभी भी भरोसा नहीं होता कि उन्होंने जो बनाया है वह इतिहास-वर्तमान-भविष्य के कड़े मापदण्डों पर ज़रा भी खरा उतरेगा। यह सवाल वे बार-बार खुद से करते हैं। जब खुद से कर के थक जाते हैं तो जो दोस्त सामने पड़ता है, उससे करते हैं। जब आसपास वाले भी थक जाते हैं तो अनजान लोगों को अपना काम दिखाकर वही सवाल दुबारा उछाला जाता है, “तो ये कैसा लग रहा है?”

‘गैंग्स ऑफ वासेपुर’ फिल्म के गीत लिखते वक्त मैंने यह सवाल अकसर स्नेहा खानवलकर (इस फिल्म की संगीतकार) से पूछा। और जितनी बार मैंने पूछा, उससे कम से कम दुगनी बार स्नेहा ने मुझसे पूछा होगा।

इस फिल्म के गीतों के बनने के सफर में हिस्सेदारी करना बड़ा लम्बा, कभी-कभी थका देने वाला सफर था। लेकिन यह बहुत-सी नई दुनियाओं के दरवाज़े खोलने वाला भी सफर था। यहाँ मैं इसी सफर को एक डायरी-नुमा शक्ल देने जा रहा हूँ। गीत कैसे बनता है, इसकी एक छोटी-सी दास्ताँ...

महरौली या महरोबी?

एक गाना था, शेखर कपूर की फिल्म ‘मासूम’ में। इसे गुलज़ार ने लिखा है और राहुल देव बर्मन ने संगीत से सजाया है। गाना है, ‘लकड़ी की काठी, काठी पे घोड़ा’। मैं इसे बचपन में हर रोज़ सुनता था। इतना सुना कि बेचारा कैसेट घिस के खराब हो गया।

मुझे हाल ही में पता चला कि इस गाने की एक लाइन मैं इतने सालों से गलत सुनता आया था। वो लाइन थी, ‘घोड़ा अपना तगड़ा है, देखो कितनी चरबी है, चलता है महरौली में पर घोड़ा अपना अरबी है’। इसे मैं हमेशा सुनता आया था, ‘घोड़ा अपना तगड़ा है, देखो कितनी चरबी है, चलता है महरोबी लेकर घोड़ा अपना अरबी है’।



मुझे पता भी नहीं था 'महरोबी' क्या होता है और घोड़ा इसे लेकर क्यों चल रहा है। लेकिन यह शब्द अटक गया तो अटक गया और मैं करीब 24-25 साल तक यही गुनगुनाता रहा। ऐसा शायद इसलिए हुआ क्योंकि मैं बचपन में हिमाचल प्रदेश के एक कस्बे सुन्दरनगर में रहता था और उस वक्त मुझे महरौली की बिलकुल हवा नहीं थी। (बहुत बाद में जाना कि महरौली दिल्ली का एक इलाका है।) ऐसे ही बहुत से गानों के शब्द मैं कई साल तक गलत सुनता आया था और फिर किसी दिन जब राज़ खुलता तो थोड़ी शर्म-सी आती कि हम कहाँ खुद को शब्द और संगीत प्रेमी मानते-फिरते थे!

लेकिन देखो आज मुम्बई में मैं फिल्मों के गीत ही लिख रहा हूँ। 2012 में आई फिल्म 'गैंग्स ऑफ वासेपुर' के गीत हिन्दी-भोजपुरी मिश्रित लहज़े में होने के कारण, कम ही लोगों को समझ आए। मैंने बहुत-से लोगों को इन गीतों को गलत शब्दों के साथ गुनगुनाते सुना है। कल मैं दूसरों के गीत गलत गाता था, आज सब मेरे गीत गलत गा रहे हैं। गीत लिखने के बाद जिससे भी मिला सबका पहला सवाल यही रहा - अच्छा यह बताओ पहले गीत के शब्द लिखते हो फिर धुन बनती है या पहले धुन बनती है और फिर शब्द लिखे जाते हैं?
इस सवाल पर मैं भी बचपन से बहुत बार सोच चुका था। मेरी समझ थी कि दोनों तरहों से काम होता होगा। कुछ गीतों में धुन पहले बनती होगी, कुछ में शब्द पहले लिख दिए जाते होंगे। यहाँ आने के बाद जाना कि गीत बनने की लम्बी मशक्कत का यह तो सबसे आसान हिस्सा है। एक पूरा गीत तैयार करने में कई धक्के और खाने पड़ते हैं जिनके बारे में ना कोई पूछता है, ना कोई जानता है।

कहानी कहती है...

सबसे पहले सबसे आसान सवाल लेते हैं। तीनों तरहों से काम होता है - कभी शब्द पहले लिखे जाते हैं, कभी धुन पहले बनती है और कभी दोनों साथ-साथ बनते हैं।

लेकिन इन सबसे पहले आती है फिल्म की पटकथा। क्योंकि गीत फिल्म के लिए बनने हैं। फिल्म के किरदारों को उसे गाना है, तो लिखने और संगीत बनाने वाले को पता होना चाहिए कि फिल्म की पृष्ठभूमि क्या है। साथ ही किरदारों की उम्र, पेशा, ज़ुबान, गीत गाते समय उनके मन की हालत वगैरह सब पता होना चाहिए।



'गैंग्स ऑफ वासेपुर' फिल्म में पृष्ठभूमि थी बिहार और झारखण्ड की। यह कहानी सन् 1944 से लेकर 2008 तक फैली थी। यानी स्नेहा खानवलकर को संगीत में बिहार/झारखण्ड का 64 सालों का दौर दिखाना था। अब यहाँ दो रास्ते थे - पहला, मुम्बई के किसी स्टूडियो में बैठकर बिहार के लोक गीतों को सुनकर उनके जैसे गीत बना दिए जाएँ (हिन्दी फिल्म इण्डस्ट्री में अकसर इसी तरह यह काम होता है।) दूसरा, बिहार चला जाए और वहाँ के संगीत को, बोलियों और लोक-धुनों को छाना जाए। और फिर उसमें से फिल्म का संगीत बनाया जाए। स्नेहा को दूसरा रास्ता ही आसान लगा।

बिहार भ्रमण

एक कैमरा, एक रिकॉर्डर और अपने एक दोस्त को लेकर स्नेहा बिहार की सड़क-यात्रा पर निकल पड़ीं। वह वहाँ किसी को भी जानती नहीं थीं इसलिए सबसे पूछते-फिरते ही अपनी पूरी रिसर्च की। बहुत-से ज़िलों, गाँवों, आदिवासी क्षेत्रों में गईं। दुकानों में जाकर लोगों से पूछा, "आप में से कोई गाना गाता है? किसी गाने वाले को जानते हैं? कोई लोक गीत सुनाइए प्लीज़?" एक किताब की दुकान वाले से पूछा तो उसने कहा, "हम तो नहीं गाते लेकिन एक यशवन्तजी हैं। उनका संगीत में बड़ा मन लगता है। शिक्षा के ही क्षेत्र में हैं। आपको उनसे मिलवा देते हैं।"

इस तरह यशवन्तजी मिले। उन्होंने फिर आगे और कड़ियाँ जोड़ीं। मुज़फ्फरपुर, गया और दरभंगा के संगीत गुरुओं तक पहुँचाया। मुज़फ्फरपुर में स्नेहा को 14-15 साल का एक लड़का दीपक मिला। उसने होटल के कमरे में आँख बन्द करके एक भजन सुनाया। उसके बोल थे - "हमनी के छोरी के नगरिया ऐ बाबा... कि अरे बाबा छोरी दिहला घर, संसार, काऊन बन मा माई गई ली हो?" (पंडित बाबा जी! हमारी नगरिया, घर, संसार छोड़ के दुर्गा माई किस वन में विसर्जन को जा रही है?)

सिर्फ हारमोनियम की संगत पर गाया यह गीत फिल्म के निर्देशक (अनुराग कश्यप) को इतना पसन्द आया कि उन्होंने इसे ज्यों-का-त्यों फिल्म में इस्तेमाल कर लिया। इसी तरह धड़ल्ले से स्नेहा और उसका दोस्त विलास कहीं भी पहुँच जाते और पूछताछ कर के कोई न कोई संगीत-सम्बन्धी जानकारी निकाल लेते।

चालीस दिन की यात्रा के बाद स्नेहा के पिटारे में बिहार की चारों मुख्य भाषाओं (अंगिका, बज्जिका, मगही, मैथिली) के ढेर सारे लोक गीत थे। साथ में करीबन सौ घण्टों से ऊपर की वीडियो रिकॉर्डिंग और 50-60 किताबें जिनमें इन भाषाओं की कविताएँ और लोक गीत थे।

गीतकार का काम शुरू

स्नेहा गेहूँ की बालियाँ ले आई थीं। अब हमें उसे कूटना था। गेहूँ अलग करना था। उसे पीसना था। गूँथना था और फिर उसकी रोटियाँ सेंकनी थीं। और हाँ, रोटियाँ सेंकने के लिए चूल्हे और लकड़ी का इन्तज़ाम भी करना था। गीतकार (मैं और पियूष मिश्र) का काम अब शुरू हुआ था।

मैंने बिहार से जुटाई हुई रिकॉर्डिंग सुनीं। वीडियो देखे। किताबें पढ़ीं। उनमें कई मज़ेदार चीज़ें मिलीं। जैसे बिहार में बच्चे खेलते हुए एक गीत गाते हैं, "ओका बोका तीन तड़ोका, चन्दन काठी, लौव्वा लाठी" मुझे लगा इसे कहीं इस्तेमाल किया जा सकता है। ऐसे ही एक शादी का गीत मिला, "तार बिजली से पतले हमारे पिया, ओ री सासू बता तूने ये क्या किया।" स्नेहा का मन था कि इस लाइन से शुरू होता एक नया गीत लिखा जाए।

ऐसे ही बहुत-सी आवाज़ें मिलीं। एक आदिवासी गाँव में घूमते हुए स्नेहा को एक 80 साल के ओझा मिले जो ताड़ी के नशे में गा रहे थे। उसके कुछ अंश फिल्म में एक जगह ग्रूव (अर्थात एक बार-बार बजने वाली छोटी धुन) की तरह इस्तेमाल किए गए।

अब स्नेहा ने भी धुनें बनानी शुरू कीं। मुझे गीत लिखना शुरू करना था। खुला मैदान था एकदम। हमको बस फिल्म की कहानी को ध्यान में रखना था। फिल्म में किसी खास जगह के लिए गीत बनाने थे,

इसकी कोई पाबन्दी नहीं थी। निर्देशक ने कहा था कि तुम जो भी बनाओगे, मैं उसे कहीं ना कहीं पार्श्व में बजने वाले गीत की तरह इस्तेमाल कर लूँगा।

जिया हो बिहार के लाला

एक रात भर चलने वाली नौटंकी का वीडियो मिला। इसमें नौटंकी वाली मण्डली अपनी बच्चा-पार्टी (मुख्य गायक को संगत देता बच्चों का समूह) का गला खुलवाने के लिए एक ही लाइन बार-बार गवा रही थी, "जिया हो बिहार के लाला...जिया तू हजार साल...जिया तू हजार...तनी नाची के, तनी गाई के, तनी नाची गाई सबका मन बहलाव रे भैय्या..."। हमें यह लाइन बहुत पसन्द आई। सभी चाहते थे कि इस पर पूरा गीत लिखा जाए। तो मैंने शब्द लिखने शुरू किए। स्नेहा ने इस धुन को आगे बढ़ाया और कुछ दिनों में हमारे पास गाना तैयार था। लेकिन अभी उस पर ढेर सारी मेहनत बाकी थी।

कमरे के बाहर की दुनिया

गीत लिखना और उसकी धुन बनाना आराम से कमरे में बैठकर किया जा सकता है। लेकिन जब गीत को रिकॉर्ड करना होता है तो एक और जुगत शुरू होती है। यहाँ से गाना बनाने की प्रक्रिया कुछ इस तरह की होती है:

1. गीत में कौन-कौन से वाद्य-यंत्र बजेंगे और उन्हें कौन बजाएगा इसका फैसला। इनमें से कुछ यंत्रों की रिकॉर्डिंग - वो यंत्र जो गीत में सबसे ज़्यादा असर पैदा करेंगे। कुछ यंत्रों की रिकॉर्डिंग बाद के लिए छोड़ दी जाती है।
2. मुख्य गायक (और कोरस गानेवालों) का चुनाव। वाद्य-यंत्रों की रिकॉर्डिंग के ऊपर उसकी आवाज़ की रिकॉर्डिंग।
3. बचे हुए यंत्रों की रिकॉर्डिंग
4. गीत की फाइनल मिक्सिंग। मिक्सिंग। यानी जितनी आवाज़ें रिकॉर्ड हुई (गायक और मान लो, 15 वाद्य-यंत्र) उनमें सही सन्तुलन बिठाना। आवाज़ों को अलग-अलग जगह पर ऊपर-नीचे करना ताकि जिन शब्दों या यंत्रों पर ज़्यादा ज़ोर देने की ज़रूरत है वे साफ सुनाई दें, और कहीं कोई शोर है या कुछ गलत या बेसुरा बज गया है, उसे कम्प्यूटर की मदद से ठीक करना। इन चारों कामों में कई-कई दिन लग सकते हैं। और हमें लगे भी।

गायक की खोज

वाद्य-यंत्रों की रिकॉर्डिंग झटपट हो गई। मुख्य ग्रूव ढोल की धमक से ही बना। बाकी का अधिकतर काम कम्प्यूटर से हुआ। बहुत से कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर में हज़ारों वाद्य-यंत्रों की आवाज़ें रहती हैं। म्यूज़िक अरेंजर कहा जाने वाला एक एक्सपर्ट इन पर काम करता है और तरह-तरह की धुनें इजाद करता है।
लेकिन दिक्कत हुई गायक ढूँढने में। गीत फिल्म के मुख्य किरदार की मृत्यु पर आता है। एक तरह से यह उसके लम्बे, संघर्ष भरे जीवन का उत्सव-सा मनाता हुआ गीत है। इसके लिए हमें ऐसी आवाज़ चाहिए थी जो बहुत बुलन्द और स्वाभिमानी हो, लेकिन साथ ही थोड़ी निश्छल और करुण भी।
कई गायकों से गवाने की कोशिश की। एक बार फिर पटना का चक्कर लगाया। मुज़फ्फरपुर और गया से भी गायकों को खोज के लाया गया लेकिन किसी की आवाज़ में वो सही अनुपात नहीं मिला दबंगई और दुख का। सोचा बनारस चलते हैं। संगीत की राजधानी है हिन्दुस्तान की। वहाँ गायक तो नहीं मिला लेकिन हमारे मित्र विपुल नागरजी ने सुझाया कि आप मनोज तिवारी से काहे नहीं गवाते? मनोज तिवारी भोजपुरी फिल्मों के मशहूर हीरो हैं जो एक ज़माने में अपने गानों के दम पर ही अभिनेता बने थे। उनको खोजा तो पता चला कि वो तो मुम्बई में ही हैं। वापस आए और उनके साथ रिकॉर्डिंग शुरू की। वो माइक के पीछे गए और लम्बी तान ली। उस आवाज़ में वो सब कुछ था जो हम खोज रहे थे। रिकॉर्डिंग स्टूडियो में फिल्म के निर्देशक अनुराग कश्यप तो गीत के बीच में ही खुशी से कूदने लगे।



अन्तिम चरण

रिकॉर्डिंग सबको अच्छी लगी। मनोज तिवारी भी बहुत खुश नज़र आए। अब गीत को फाइनल मिक्सिंग के लिए भेजा जाना था। मिक्सिंग सोचने में आसान लगता है लेकिन खराब मिक्सिंग अच्छे से अच्छे गीत का बैंड बजा सकती है। और अच्छी मिक्सिंग से अधूरे गीत को भी पूरा जैसा बनाया जा सकता है।

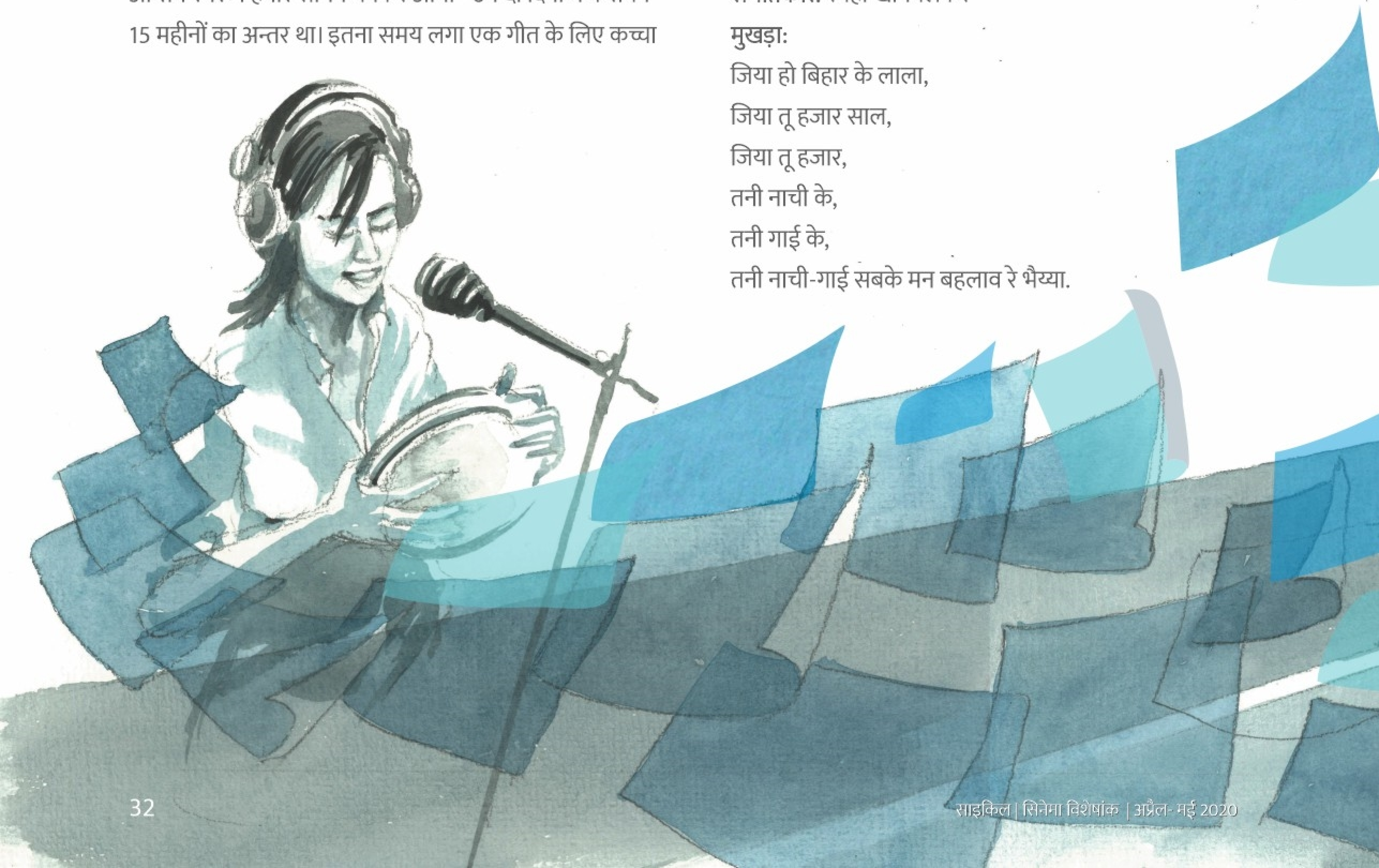
मनोज तिवारी गाते-गाते बीच में एक दूसरी दुनिया में खो गए थे। बीच में एक समय आया जब वे आँख बन्दकर आलाप-दर-आलाप लिए जा रहे थे। वो कुछ जादुई क्षण थे जिनकी झलक गीत में लाना ज़रूरी था। यही काम मिक्सिंग इंजीनियर का था - गीत के अलग-अलग जादुई हिस्सों को खूबसूरती से जोड़ना। गायक एक गीत कई टेक्स (कोशिशों) में गाता है। एक ही लाइन 6-7 बार गाई गई होती है। उनमें से सबसे अच्छी कौन-सी है, यह मिक्सिंग इंजीनियर और संगीतकार मिलकर तय करते हैं।

जिस दिन स्नेहा बिहार यात्रा पर निकली थीं, और जिस दिन गीत का अन्तिम स्वरूप हमारे सामने बनकर आया - उन दो दिनों में करीबन 15 महीनों का अन्तर था। इतना समय लगा एक गीत के लिए कच्चा माल ढूँढने से लेकर उसको पूरा बनाने में। इस काम में ढेर सारे वाद्य कलाकार, गायक, इंजीनियर, रिकॉर्डिंग स्टूडियो वाले, लेखक और सबसे बढ़कर संगीतकार अपने-अपने हिस्से का योगदान देते रहे। तो अगली बार जब गीत सुनना, तो आँख बन्दकर सोचना- इसके पीछे सिर्फ हारमोनियम और गिटार और तबला और ढोलक और पियानो ही नहीं बज रहा है। इसके पीछे बज रहे हैं ढेर सारे किस्से, सड़कें, धूल, पानी, बसें, बसों से लटके संगीतकार... जो जा रहे हैं एक नई धुन की तलाश में। अपनी ही किसी धुन में...

जिया हो बिहार के लाला

आवाज़ें: मनोज तिवारी एवं कोरस

म्यूज़िक अरेंजर: गौरव वासवानी
मिक्सिंग: एरिक पिल्लई
गीतकार: वरुण ग्रोवर
संगीतकार: स्नेहा खानवलकर
मुखड़ा:
जिया हो बिहार के लाला,
जिया तू हजार साल,
जिया तू हजार,
तनी नाची के,
तनी गाई के,
तनी नाची-गाई सबके मन बहलाव रे भैय्या.



अन्तराः
तू माटी के लाल रे लाला,
भैय्या-भैय्या-भैय्या...
तोहरा मगही सां निराला,
भैय्या-भैय्या-भैय्या...
तेरे पुरखे जिए अँधेरा,
और तूने जना उजाला,
तेरे पुरखे जिए अँधेरा,
और तूने जना उजाला,
तेरे गोड पखारे गंगा,
तेरे तेज से आग झुलसता,
तेरे कंधे चढ़ के सूरज,
आकास में रोज पहुँचता,
अरे जिया हो...होनहार...
तनी घूम-घाम के,

तनी धूमधाम से,
तनी तान खींच के, तानसेन कहलावा रे भैय्या,
तनी नाची-गाई सबके मन बहलाव रे भैय्या।
तनी नीके-नीके बोल पे गीत सुनावा रे भैय्या,
तनी तीखे-तीखे बोल पे ढोल बजावा रे भैय्या,
तनी झाल उठा के ताल से ताल मिलावा रे भैय्या,
तनी ढोलक-मांदर-मटका-चम्मच लावा रे भैय्या..
तनी ओका-बोका...
तनी ओका-बोका-तीन-तडोका,
गावा रे भैय्या..
तनी चन्दन-माटी, चौका-काठी,
लावा रे भैय्या।
तनी साँस फुला के, फूँक से धूल उड़ावा रे भैय्या,
तनी जान जला के गीत को तेल पिलावा रे भैय्या...
तनी नाची-गाई सबके मन बहलाव रे भैय्या।
तनी नाची-गाई सबके मन बहलाव रे भैय्या।
(नीके-नीके: सुन्दर-सुन्दर, गोड: पाँव)



फिल्म की सबसे रहस्यमयी कला एडिटिंग

पल्लवी सिंघल | चित्र: एलन शॉ

जादू = रस निष्पत्ति

जादूगर ने जादू दिखाया - आलतू जलालतू गिली गिली गिली गिली धुम्म - आपको विस्मित किया! आपने सोचा कि यह कैसे हुआ? जादूगर ने जिस भाव को आप तक पहुँचाया और आपने महसूस किया उसे लोगों ने रस निष्पत्ति कहा। यानी आपने उस कला का भरपूर रस लिया। हर कला में जादू दिखाने की क्षमता है। और जब कोई कला रस निष्पत्ति कर जाती है तो यह उस कला की जीत कही जाती है। फिल्म भी एक जादू है। निर्देशक- एक जादूगर। एडिटर - निर्देशक का सहयोगी, साझेदार - उस जादू को कार्यान्वित करने में मदद करती/करता है। यानी रस निष्पत्ति हो इसकी पूरी कोशिश करती/करता है।

हाँ तो सोचो कि तुम अपने दोस्तों के साथ अड्डेबाज़ी कर रहे हो। गप्पे लड़ा रहे हो। और सब अपने-अपने किस्से सुना रहे हैं। उनमें से किसी का किस्सा सुनकर तुम्हें लगता है कि यह बात तो मज़ेदार तरीके से शुरू हुई थी पर ये बीच-बीच में फालतू की बातें क्यों कर रहा है। तुम तुरन्त बोल पड़ते हो, "अरे भाई, क्यूँ बोर कर रहे हो? सीधे पॉइंट पर आओ न!" उम्दा किस्सा सुनानेवाला बोरियत वाले हिस्से पहले ही अपने दिमाग से निकाल देता है और केवल किस्से से सम्बन्धित ज़रूरी बातों को ही पेश करता है। और घटनाक्रम को विशेष क्रम में मज़ेदार तरीके से सुनाता है कि सुनने वाला कह उठता है, "वाह! मज़ा आ गया। तुम तो सही कहानीकार हो यार... और एक हो जाए!"

साधारण शब्दों में अगर समझना है तो यहाँ 'फालतू बोरियत वाली बातें दिमाग से निकाल देना' और घटनाक्रम को 'सटीक क्रम में पेश करना' एडिटिंग कहलाएगा।

फिल्म एडिटिंग सही शॉट्स चुनकर, कहानी के अनुसार सटीक क्रम में लगाकर, स्पष्ट और रसीली फिल्म में तब्दील करना होता है। अब पूछो कि यह शॉट क्या चीज़ है? कैमरा शुरू करने से लेकर कैमरा रोकने के बीच में जो दृश्य कैमरा कैद करता है उसे शॉट कहा जाता है। जैसे निर्देशक ने 'एक्शन' बोला और दूधवाले ने साइकिल चलानी शुरू की। वो एक घर के आगे रुका, उतरा और जाकर घर की घण्टी बजाई। निर्देशक ने 'कट' बोला। यह पूरा एक्शन एक शॉट कहलाएगा। शॉट कई साइज़ के हो सकते हैं- जैसे वाइड शॉट, लॉन्ग शॉट, मिड लॉन्ग शॉट, मिड शॉट, क्लोज़ अप, बिग क्लोज़ अप इत्यादि।

शूट कई कोनों से भी किया जा सकता है। जैसे, टॉप शॉट, लो एंगल शॉट, प्रोफाइल शॉट इत्यादि। दो और शॉट होते हैं- पॉइंट ऑफ व्यू शॉट (POV) और ऑब्जेक्टिव शॉट। यदि यह बताना है कि कोई व्यक्ति कहाँ खड़ा है तो वाइड या लॉन्ग शॉट इस्तेमाल कर सकते हैं। यदि यह बताना है कि वो व्यक्ति कौन है या किस भाव में है तो क्लोज़ अप या बिग क्लोज़ अप का इस्तेमाल कर सकते हैं। यदि यह दिखाना है कि लड़की टीचर को देख रही है तो लड़की के POV से टीचर का शॉट ले सकते हैं।



वाइड



लॉन्ग



टाइट मिड



मिड लॉन्ग



क्लोज अप



बिग क्लोज अप

कुछ और शब्द और उनके अर्थ:

सीन: फिल्म चाहे एक मिनट की हो या दो घण्टे की, एक से लेकर दो सौ सीन की हो सकती है। सीन एक बड़ी कहानी का एक टुकड़ा होता है। इसे एक उदाहरण से समझते हैं। आपने एक्शन सीन या रोमांटिक सीन तो सुना होगा। एक्शन सीन में मान लो हीरो और विलन की लड़ाई हो रही है। मकसद है- हीरो को विलन से कोई जानकारी चाहिए। तो निर्देशक इस सीन को कई शॉट्स में बाँट देता है। हर शॉट सीन के मकसद को पूरा करने में जुट जाता है। यानी सीन की अपनी शुरुआत, मध्य और अन्त होता है। सीन एक या उससे ज़्यादा शॉट्स का बना होता है। सीन का मकसद न केवल जानकारी देना बल्कि कहानी को आगे बढ़ाना होता है।

टेक: जब शॉट किसी भी कारण से सन्तोषजनक शूट नहीं हो पाता है, तो दोबारा लिया जाता है। ऐसे में पहला शॉट पहला टेक कहलाएगा और उसका दोहराव या रिपीट दूसरा टेक। इस तरह कई टेक हो सकते हैं।

एडिटिंग के दो अभिन्न हिस्से हैं - एक तकनीकी और एक कलात्मक। तकनीकी भाग को जानना मौलिक रूप से ज़रूरी है और इसमें मज़ा भी है। फुटेज कैसे कम्प्यूटर में लेनी है, कौन-सा सॉफ्टवेयर इस्तेमाल करना है, एडिट के बाद फिल्म को कैसे कम्प्यूटर से निकालना है, और फिल्म को कैसे थिएटर तक पहुँचाना है, यह मालूम होना आवश्यक है। यह ज्ञान एडिटिंग की कलात्मक यात्रा में सहयोगी है। कुछ लोगों का दिमाग तकनीकी प्रक्रियाओं से नहीं जुड़ पाता है। उन्हें घबराने की ज़रूरत नहीं। एक न्यूनतम ज्ञान होना काफी है बाकी किसी से सहायता ले सकते हैं। सहायता तो अकसर सभी को लेनी पड़ती है। अन्त में जो सबसे ज़्यादा महत्वपूर्ण है वो है एडिटर की सोचने की, महसूस करने की, कहानी कहने की क्षमता।

1. फुटेज देखना, 2. कहानी के अनुसार चुने हुए शॉट कच्चा-पक्का बिछाना (असेंबल करना और रफ कट), 3. निर्देशक के साथ मिलकर उसे और पक्का करना, फर्स्ट कट, 4. जब तक एडिटर, निर्देशक, प्रोड्यूसर इत्यादि अपने मन पसन्द कट तक न पहुँच जाएँ तब तक उसे आकार देते रहना 5. फाइनल कट एडिटिंग में उद्देश्य के अनुसार तीन रास्तों पर चला जा सकता है -

1. मोंताज- एक विचार प्रस्तुत करने के लिए तेज़ लय में जहाँ कुछ शॉट्स की लड़ी बिछाई जाती है। इस तरह दो चीज़ें हासिल होती हैं- समय व स्पेस को सिकोड़ना और कम समय में ज़्यादा से ज़्यादा जानकारी देना। जैसे, किसी फिल्म में बीस सेकंड में बता देना कि कहानी दिल्ली की है। तो दिल्ली के विशेष स्थानों को एक के बाद एक तेज़ लय में जोड़कर दिखाना। और यदि माँ की दिनचर्या तीस सेकंड में बतानी है तो इस से सम्बन्धित विशेष शॉट्स को थोड़ी तेज़ गति में काटकर पेश करना।

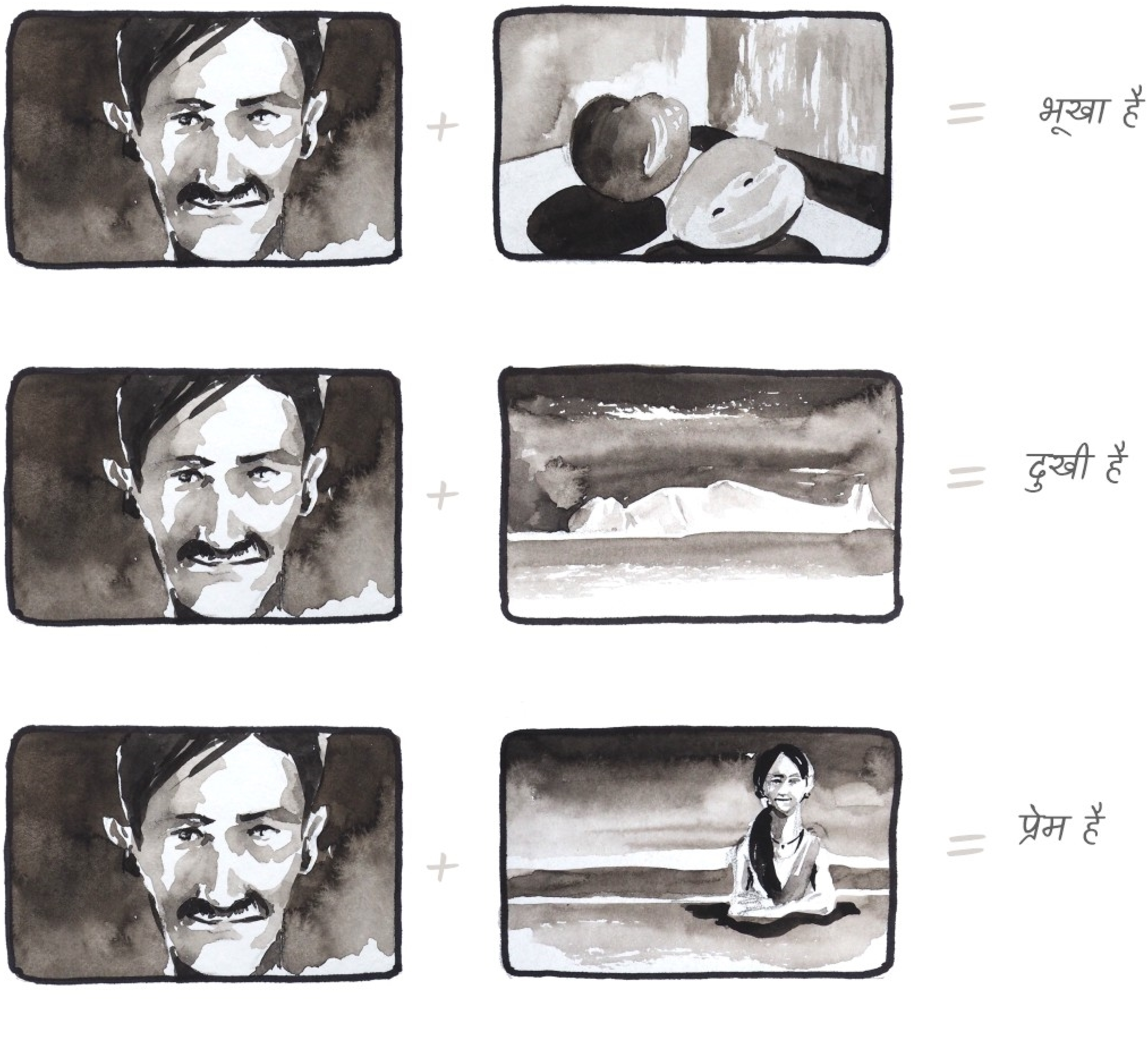
2. शॉट के अलग साइज़ और कोनों के इस्तेमाल से कहानी कहना। जैसे अल्फ्रेड हिचकॉक की फिल्म 'साइको' का एक मर्डर सीन जिसमें जासूस खूनी की तलाश में एक मकान में मौजूद है, और सीढ़ियों से ऊपर की तरफ चलना शुरू करता है। जासूस और दर्शक दोनों को मालूम है कि खूनी मकान में ही है, पर यह नहीं मालूम है कि वो कब वार करेगा। तो सनसनी पैदा करने के लिए जिन शॉट्स का इस्तेमाल किया गया है वो इस प्रकार हैं- जासूस मिड शॉट में ऊपर चढ़ रहा है, दरवाज़ा खुलने का शॉट आता है (लेकिन जासूस अनभिज्ञ है, इसीलिए दरवाज़े का शॉट जासूस का POV नहीं है), फिर से जासूस का मिड शॉट, फिर जासूस का टॉप वाइड एंगल शॉट जिसमें खूनी किसी कमरे से निकलता हुआ उस पर चाकू से वार करता है। जासूस का क्लोज़ अप जिसमें उसके चहरे पर चौंकने का भाव और खून के छींटे हैं। दर्शक भी सन्न है।







3. तीसरे रास्ते को परिभाषित करना आसान नहीं है। इसे एक उदाहरण से समझते हैं। सोवियत फिल्मकार लेव कुलेशोव का एक प्रसिद्ध प्रयोग है - एक आदमी का क्लोज़ अप 'वो कहीं देख रहा है', और एक कटे हुए सेब का शॉट। जब दोनों जुड़े तो कुछ अर्थ निकला- आदमी भूखा है। अब सेब का शॉट हटा कर एक मृत व्यक्ति का शॉट लगा दिया तो अर्थ निकला- आदमी दुखी है। संक्षेप में देखें तो एक ही शॉट को अलग-अलग तरह के शॉट्स के साथ जोड़ें तो दर्शक तक अलग अर्थ या भाव पहुँच सकते हैं। इसीलिए यह जानना ज़रूरी है कि कहानी क्या है और क्या कहना चाहते हो।



यह बिलकुल वैसा है जैसा चित्र में रंग भरते समय होता है। लाल रंग जब पीले रंग से मिलता है तो नारंगी बन जाता है। लाल में अगर सफेद मिला दो तो गुलाबी हो जाता है। मज़ेदार है न!

अब समझते हैं कि फाइनल कट तक कैसे पहुँचें? किन बातों का ध्यान रखें?

फुटेज देखना और चुनना

यह सबसे अहम हिस्सा है। इत्मिनान, केन्द्रित मन और स्वाभाविक प्रतिक्रिया, इनकी मौजूदगी के साथ फुटेज देखना और देखते हुए जो भी स्वाभाविक रूप से महसूस किया उस आधार पर नोट कर लेना कि क्या काम का है और क्या नहीं।

तटस्थता और सच

यानी फुटेज को बिना किसी पूर्वागृह के देखना और उसकी सत्यता को खोजना। हर नई फिल्म अपने साथ अपने ही सच को लाती है। हमें उसका सच पहचानना है।

कहानी क्या है?

एडिट करते वक्त मन कहानी पर केन्द्रित रहना चाहिए। यह फिल्म किस बारे में है, इसकी कहानी क्या है, हर शॉट और सीन का उद्देश्य क्या है... यदि मन इस पर टिका रहे तो कभी भी गुमराह नहीं होंगे।

सुर, लय और गति

शॉट कितना लम्बा रखें या छोटा रखें। कहाँ सीन रफ्तार से बढ़े, कहाँ धीमी गति से। इसे समझने के लिए अगर बारीकी से देखेंगे तो पता चलेगा कि हर शॉट की, अभिनय की, हर दृश्य की अपनी एक लय है, ताल है, सुर है। उसे महसूस कर लिया तो निर्णय लेना आसान हो जाता है। असल ज़िन्दगी में आपने देखा होगा जब सुबह सोकर उठते हो तो सारे काम धीरे-धीरे करते हो। उस स्थिति की लय धीमी और सुर नीचा होता है या स्कूल के लिए देर से निकलते हो तो सब काम कितना जल्दी-जल्दी सोचते हो और करते हो। इस स्थिति में लय तेज़ व सुर ऊँचा होता है।

आँखें

एडिट करने में मज़ा आता है जब शॉट में अभिनेता/अभिनेत्री की आँखें कुछ कहती हैं। अच्छा अभिनेता समझता है कि आँखें उसका औज़ार हैं। आँखों के भाव भी बताते हैं कि कहाँ पर शॉट को काटना है। कितनी देर रखना है। अच्छा एडिटर अभिनेता की आँखों का अनुकरण करता है।

निरन्तरता

अकसर एक सीन एक ही क्षेत्र में (कमरा, सड़क, पहाड़, होटल, जंगल, इत्यादि), एक ही प्रकाश स्थिति में (सुबह, दिन, शाम या रात) शूट होता है। अभिनेता को एक ही एक्शन करते हुए कई कोणों से शूट किया जा सकता है जिसमें एक्शन की निरन्तरता बरकरार रखना ज़रूरी होता है। उदाहरण के लिए, आपने सड़क पर दिन ही में शूट करना है लेकिन दिन से शाम हो गई है, सूरज डूब रहा है, और सीन के कुछ शॉट अभी भी बाकी हैं। आप जैसे-तैसे शूट कर लेते हो क्योंकि मजबूरी है। लेकिन एडिट के समय पता चलता है कि उस सड़क के सीन में ही प्रकाश एक शॉट से दूसरे शॉट में धीरे-धीरे बदल गया है। यानी प्रकाश एक-जैसा नहीं रहा है।

निरन्तरता है तो सोने पर सुहागा। नहीं है तो भी एक खुशखबरी है। सीन का केन्द्र ज़्यादातर कहानी या अभिनेता के मुँह का भाव होता है। अगर ये दोनों पुख्ता हैं तो इससे



ज़्यादा फर्क नहीं पड़ता कि सीन में क्या गलती थी। इसका उदाहरण है एक पुरानी हिन्दी फिल्म 'पाकीज़ा' जिसको बनने में चौदह-पन्द्रह साल लगे। इस वजह से फिल्म की अभिनेत्री मीना कुमारी जहाँ कम उम्र की लगनी चाहिए वहाँ अधिक की लग रही हैं और जहाँ अधिक की लगनी चाहिए वहाँ कम की। अगर ध्यान से देखें तो कई सीन में गलतियाँ नज़र आएँगी। मैंने यह फिल्म कितनी ही बार देख ली है। पर चूँकि उसकी कहानी और अभिनय दमदार है इसलिए इन गलतियों पर ध्यान नहीं जाता या उन्हें माफ कर दिया जाता है।

जान लें कि सिनेमा हॉल में अगर फिल्म अच्छी लगी तो इसका मतलब है एडिटिंग अच्छी थी। और यह भी जान लें कि फिल्म देखते हुए अच्छी एडिटिंग प्रत्यक्ष रूप से दिखाई नहीं देती। अभिनय दिखाई देगा, कहानी दिखाई देगी, दृश्यों की खूबसूरती दिखाई देगी, पर एडिटिंग नहीं। जब एडिटिंग दिखाई देने लगे तो समझ लो कि कहीं तो गड़बड़ है।

तो चलो अब थोड़ा अभ्यास कर लिया जाए। नीचे कुछ कार्य दिए गए हैं। उन्हें समझें और पूरा करें-

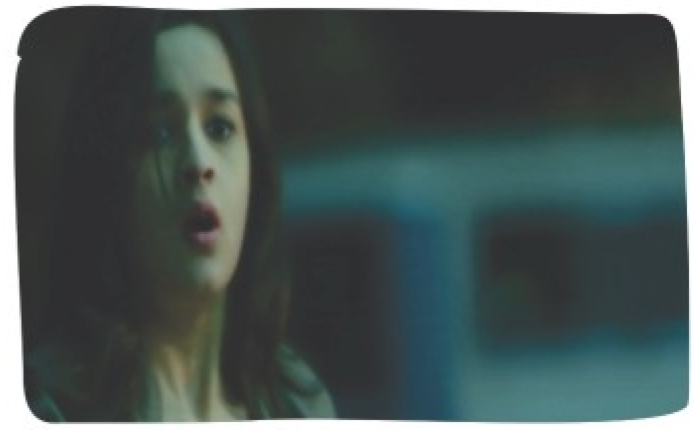
1. अपनी मनपसन्द फिल्म चुनें। सोचें कि वह आपको क्यों पसन्द आई थी। उसे दुबारा देखें। रोक-रोक कर देखें। फिर इन सवालों का जवाब ढूँढें - कहानी क्या है? सीन में क्या हो रहा है? मकसद क्या है? सीन में किस तरह के शॉट्स का इस्तेमाल किया गया है? उसका मकसद क्या है? सीन को उस तरह क्यों काटा गया है? एक सीन से दूसरे सीन में जाने के लिए क्या किया गया है? सीन/फिल्म का सुर और लय क्या है? अगर कहीं कोई गड़बड़ है तो उसे कैसे सुधार सकते हैं? अब ऐसी फिल्म चुने जो किसी भी लिहाज़ से सही नहीं बनी थी। और जानने की कोशिश करें कि क्या गड़बड़ रही और क्यों रही। समझ में आएगा कि क्या नहीं करना चाहिए।

2) कुलेशोव एक्सपेरिमेंट- भाव बताएँ

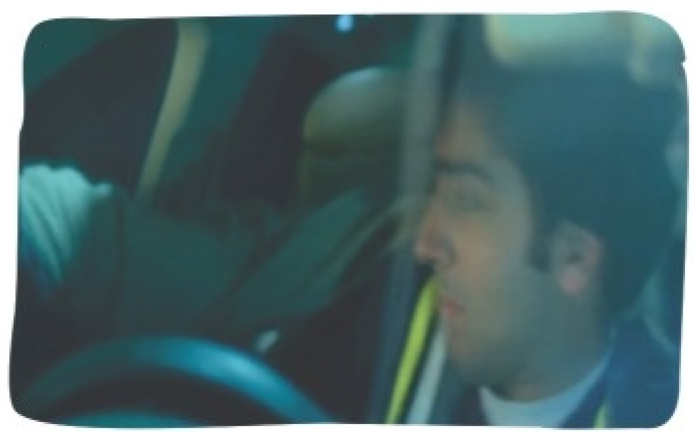


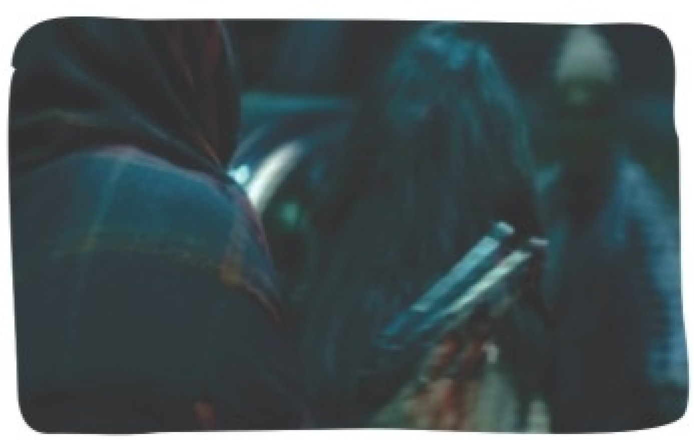
3) यहाँ कुछ शॉट्स दिए गए हैं। इन्हें सही क्रम में लगाएँ। शॉट के नीचे अंक से इंगित कर सकते हैं।











चेल्वी

श्वेता अरोरा | चित्र: बरखा चौधरी



बचपन में एक अनूठी फिल्म देखी थी - चेल्वी। कन्नड़ लोककथा पर आधारित इस फिल्म को लिखा और निर्देशित किया था गिरीश कर्नाड ने। पेड़ बचाने के प्रति लोगों को जागरूक करने के लिए दूरदर्शन ने इसे प्रसारित किया था।

चेल्वी नाम की एक लड़की जादू से फूलों से लदा एक पेड़ बनती है। उसका प्रेमी उन फूलों की गन्ध का दीवाना होता है। बाद में वो शादी कर लेते हैं। चेल्वी को पेड़ बनाने के लिए उसका पति उसके ऊपर घड़ा भर पानी डालता है। और वापस इंसान बनाने के लिए घड़े से उस पेड़ को पानी देता है। वो एकान्त में सिर्फ अपने पति के लिए पेड़ बनती है। पेड़ बनने वाली बात सिर्फ वे दोनों जानते थे। एक बार, चेल्वी के पति की बहन को भी इसका पता चल जाता है। वो चेल्वी से पेड़ बनने की ज़िद करती है। पर भूल से उसे वैसा ही छोड़ कर कहीं चली जाती है। कुछ शैतान बच्चे छुपकर उसे पेड़ बनता देख लेते हैं। बहन के जाने के बाद, वे उस पेड़ पर चढ़कर खूब उधम मचाते हैं। पेड़ को तहस-नहस कर देते हैं। वापस आकर बहन उसे इंसान बनाने की कोशिश करती है। पर तब तक सिर्फ चेल्वी का इंसानी सिर और धड़ के नाम पर पेड़ का तना बचता है। चेल्वी के प्यार में डूबा उसका पति बहुत दुखी होता है। और अपनी आधी मनुष्य और आधे पेड़ रूपी पत्नी को लेकर हमेशा के लिए जंगल में रहने चला जाता है।



ठीक-ठाक याद नहीं कि कौन-से साल में मैंने और मेरे भाई ने ये फिल्म देखी थी। गर्मी की छुट्टियाँ थीं बस यह पता है। एक इंसान के पेड़ बन जाने का जादू हमें कई दिनों तक नचाता रहा। मेरा भाई बहुत छोटा था। उसे लगा यह सच में हो सकता है। उसने मुझसे पूछा कि अगर पानी दें तो क्या कोई भी इंसान पेड़ बन सकता है? मैं हाँ कह देती, तो गलत नहीं होता। पानी मिले तो कोई भी पेड़ बन कर खुशबू बिखेर सकता है।

मुझे इस फिल्म का कोई गाना, कोई और कलाकार याद नहीं। सिवाए आधा पेड़ बनी उस लड़की के। फिल्म में सोनाली कुलकर्णी ने उसकी भूमिका अदा की थी। इसके कुछ हिस्से और सीन मेरे दिमाग में जैसे चस्पाँ हो गए।

'चेल्वी' को इधर मैंने बहुत ढूँढा। कहीं पूरी फिल्म नहीं मिली। 'चेल्वी' को अतीत के पन्नों से कोई खोज लाए तो मुझे ज़रूर बताना। काश कि उसे देखते हुए मैं फिर गर्मी की छुट्टियाँ में वापस चली जाऊँ! मेरा भाई और मैं एक दोपहर फिर से 'चेल्वी' देखें और भोलेपन से वो पूछे, "क्या पानी देने से कोई भी इंसान पेड़ बन जाता है?"





बृजेश राजपूत
चित्र: एलन शॉ

ओम जय जगदीश हरे... स्वामी जय जगदीश हरे...
शाम होते ही करेली कस्बे की श्याम टॉकीज़ में यह आरती लाउडस्पीकर पर बजने लगती थी। हम समझ जाते कि साढ़े पाँच बज गए हैं। और आधे घण्टे बाद शो शुरू होने वाला है। आरती के बाद फिल्मी गानों के रिकॉर्ड बजाए जाते थे। रिकॉर्ड घिस गए थे। हमें मालूम होता था कि कोई रिकॉर्ड कहाँ फँसेगा। फिल्म 'कुँवारा बाप' का गाना ''मैं हूँ घोड़ा, ये है गाड़ी, मेरी रिक्शा सबसे निराली' खूब बजता। कई बार रिकॉर्ड 'घर तक पहुँचा देने वाली' पर अटक जाता। और बार-बार यही बजता रहता। हम सोचते अब तक तो लोग घर भी पहुँच गए होंगे।

श्याम टॉकीज़ के बाहर दो बहुत छोटी टिकिट खिड़कियाँ थीं। आमतौर पर ये सन्नाटे में डूबी रहतीं। लेकिन शो शुरू होने से पहले अच्छे-खासे अखाड़े में बदल जाती थीं। एक साथ दो-तीन लोग खिड़की में हाथ डाल देते।

सिनेमा हॉल में दर्शकों के बैठने की कई क्लास होती थीं। पाँच रुपए में पर्दे के पास लम्बी बेंच वाली फर्स्ट क्लास, दस रुपए में बीच में कुर्सियों वाली सेकंड क्लास, पन्द्रह रुपए वाली थोड़ी आरामदायक कुर्सियों वाली थर्ड क्लास के बाद बीस रुपए वाली बालकनी होती।

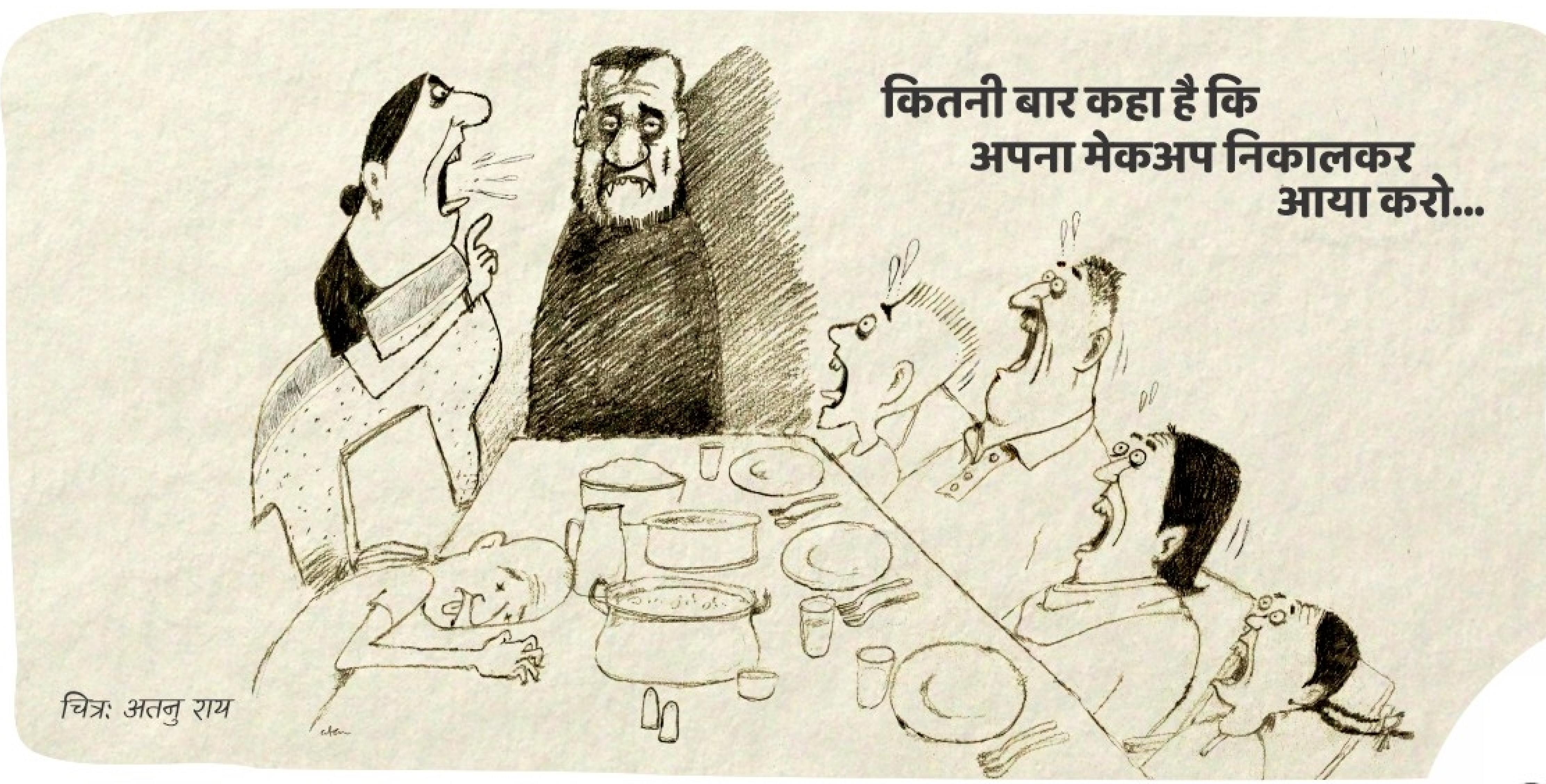
एक क्लास और होती थी - लेडीज़ क्लास। यह थर्ड क्लास के पीछे होती। फिल्म शुरू होने के पहले तक यहाँ पर काले पर्दे टँगे रहते थे। हर क्लास में एक गेटकीपर होता था। श्याम टॉकीज़ की लेडीज़ क्लास में तेज़-तर्रार बुज़ुर्ग रामबाई गेटकीपर होती थीं। वो बीच-बीच में बोलतीं, “ओ मुन्नू की मम्मी ये शर्माजी आए हैं। घर की चाबी माँग रहे हैं। अरे, सुन नहीं रहीं वो बाहर खड़े हैं।” फिर कोई औरत गेटकीपर को चाबी थमा जाती। जिसे वो बाहर खड़े शख्स को पहुँचा आती।

सिनेमाहॉल बहुत छोटे होते। इंटरवल में चना-चबेना, चाट-पकौड़ी और हलके होने के लिए बाहर जाना पड़ता था।

निकलने से पहले दर्शकों को एक गेटपास दिया जाता था। इसमें उस क्लास का नाम होता था। हम टॉकीज़ के पास रहने वाले कुछ गेटपास अपने पास रखते थे। मौका देखते ही इन्हें दिखाकर आधी फिल्म देख आते।

बालकनी के ठीक पीछे प्रोजेक्टर का कमरा होता था। फिल्में रील पर चलती थीं। सामान्य फिल्म 14 से 16 रील की होती थीं। लम्बे-ऊँचे प्रोजेक्टर पर एक फ्रेम में कसकर रीलें घुमाई जातीं। पीछे से कार्बन की दो पतली रॉड से रोशनी निकलती। इस से पर्दे पर रीलों का अक्स आता। प्रोजेक्टर रूम के ऑपरेटर थे - श्याम बहरे। वो थोड़ा ऊँचा सुनते थे। हम सब श्याम जी की किस्मत पर रश्क करते। क्या किस्मत पाई है। सारी फिल्में पहले देखते हैं और रोज़ देखते हैं! बड़े होकर हम फिल्म चलाने वाला श्याम बहरे बनना चाहते थे। खैर, हम श्यामलाल तो नहीं बने लेकिन श्यामलाल पर लिखने वाले तो बन ही गए।





चित्रः अतनु राय

कला का समय

पंकज चतुर्वेदी | चित्र: नीलेश गहलोत



रामलीला में धनुष-यज्ञ के दिन मुकुट और राजसी वस्त्र पहने
गाँव का नवयुवक नरेश विराजमान था
रंगमंच पर सीता से विवाह होते-होते सुबह की धूप निकल आई थी
पर लीला अभी जारी रहनी थी
अभी तो परशुराम को आना था
लक्ष्मण से उनका लम्बा सम्वाद होना था

नरेश के पिता किसान थे
सहसा मंच की बगल से दबी आवाज़ में उन्होंने पुकारा:
नरेश! घर चलो सानी-पानी का समय हो गया है

मगर नरेश नरेश नहीं था राम था इसलिए उसने एक के बाद एक
कई पुकारों को अनसुना किया।
आखिर पिता मंच पर पहुँच गए और उनका यह कहा बहुतों ने सुना -
- लीला बाद में भी हो जाएगी पर सानी-पानी का समय हो गया है

(कविता का सम्पादित अंश)





मुट्ठी भर छुट्टी

मीनाक्षी नटराजन | चित्र: नीलेश गहलोत

टीवी से बहुत पहले फिल्में देखना हमारे बचपन का हिस्सा बना। पूरा मोहल्ला फिल्म देखने जाता। फिल्म से ज़्यादा रुमानियत भरा अनुभव उसे देखने जाने का होता। अच्छे कपड़े पहनते, हेयरबैण्ड लगाते, इत्र से महकते हुए घर से निकलते।

कस्बे में कुल दो सिनेमाघर थे। छह से नौ के शो के बाद पैदल लौटना होता। नौ के बाद साइकिल रिक्शा भी नहीं चलता था। टिकिट खिड़की पर जितनी लम्बी कतार होती, फिल्म उतनी हिट मानी जाती थी। बगल से गुज़रते कुछ लड़के धीमी आवाज़ में

बुदबुदाते ‘बीस के दो, बीस के दो’। यानी लाइन में लगे बिना दुगने दाम में इनसे टिकिट खरीदा जा सकता था। पुलिसवालों को पता चल जाता तो इनकी खैर नहीं होती थी।

मेरा बचपन औद्योगिक बसाहटों में गुज़रा। मज़दूरों की दोपहर की पारी खत्म होने पर सायरन बजता। इनकी शिफ्ट के अनुसार फिल्में चलतीं। तीन से छह का शो खासतौर पर ‘बी शिफ्ट’ के मज़दूरों के लिए होता था। शुक्रवार के दिन अपनी साइकिलें तेज़ दौड़ाते हुए वे टिकिट खिड़की तक पहुँचते। मिल के मज़दूर, प्रबन्धक, स्कूल के शिक्षक, प्राचार्य, कर्मचारी सब एक साथ फिल्म देखते। अलबत्ता दो-तीन श्रेणियाँ होती थीं। बालकनी ओर स्टॉल पर मज़दूर वर्ग अमूमन नहीं जा पाता था। उसका किराया ज़्यादा होता था। वो अलग-अलग वर्गों में तो बँटा था, पर सिनेमाघर एक था।

हॉल में अँधेरा रहता। हमारे मोहल्ले के एक अंकल टिकिट बेचने वाले से और टॉर्च दिखाकर सीट बताने वाले से ज़रूर पूछते, “कैसी पिक्चर है?” ज़ाहिर है वो पिक्चर को सुपर हिट बताता। और जब इन्हें फिल्म पसन्द नहीं आती तो लौटते समय चौकीदार से कहते, “कैसी फिल्म बनाया?”

फिल्म देखने हमारा पूरा पड़ोस खाने का डिब्बा साथ ले जाता। आलू के पराठों के साथ शलजम के अचार का रोल करके अँधेरे हॉल में चुपचाप खाया जाता। सीटों पर कभी-कभार कॉकरोच और खटमल भी मिल जाते। पर फिल्मों की मस्ती के आगे ये न ठहर पाते।

मुझे याद है कि ‘जय सन्तोषी माँ’ ने कैसे सारे रिकॉर्ड तोड़ डाले थे। ‘महिलाओं की अपार भीड़’ जैसे इश्तेहार दिए जाते। मोहल्ले-मोहल्ले की औरतें दोपहर का शो देखने जातीं। और नायिका के कभी न खत्म होने वाले कष्टों पर अँधेरे में आँसू बहातीं। बीच-बीच में अपने घर की कथाएँ भी सुनाने लगतीं।
इंटरवल में काली कढ़ाई में कई बार कढ़ चुके काले तेल में तले समोसे और गोल्ड स्पॉट मिलता था। पॉपकार्न या भुना भुट्टा भी मिल जाता। भुनी मूँगफली भी मिल जाती।

अगले दिन क्लास में फिल्म की ही चर्चा चलती। उन दिनों फिल्म देखना बुरा नहीं माना जाता था। लेकिन ‘फिल्मों ने बिगाड़ा है’ आम डायलॉग हुआ करता था। मेरी माँ बताती है कि उन्होंने आठवीं तक कोई फिल्म नहीं देखी। टीचर ने नानाजी को खासतौर पर मूवी दिखाने के लिए कहला भेजा। पर हमारे आते-आते टीचर को नोट भेजना पड़ता था कि टीवी बन्द कराइए। पापा का अन्य शहर में तबादला हो जाने के बाद मैंने कई फिल्में देखीं। ‘जंगल बुक’, ‘किताब’ बहुत अच्छी लगी। ‘ब्लू अम्ब्रेला’, ‘तहान’, ‘बमबम बोले’ मेरी पसन्दीदा बच्चों की फिल्में हैं। ‘तहान’ में एक बच्चा (तहान) अपने गधे (बीरबल) को वापस पाने की जद्दोज़हद में फँसा है। फिल्म में कश्मीर की खूबसूरत वादियों में मुश्किल से भरे जीवन को सुन्दर ढंग से पेश किया गया है। तहान के हाथों में ग्रेनेड का थमाया जाना और ऐन मौके पर उस ग्रेनेड को पानी में फेंक देना मार्मिक लगता है।

तहान के दोस्त द्वारा अपने अंकल को मनाकर बीरबल का वापस लौटाना ‘ब्लू अम्ब्रेला’ के अन्त की तरह है। लेकिन ‘ब्लू अम्ब्रेला’ में एक अलग तरह की मुक्ति है। बच्ची उस लालची दुकानदार से अपनी छतरी वापस ले तो लेती है। मगर उस दुकानदार को उदास देख अपनी इतनी हसरत से पाई छतरी उसे लौटा देती है। ‘ब्लू’ असीम का प्रतीक माना गया है। मुक्ति ऐसी ही गहरी होती है। उस नीली छतरी के नीचे हर तरह के इंसान के लिए जगह बन जाती है। वैसे ही जैसे नीले आसमान के नीचे हर एक के लिए एक कोना सुरक्षित है। छतरी बड़ी हो जाती है।







टिम लख-लख ते... टिम लख-लख

मैं 15 साल का था जब पहली बार ‘रंग दे बसन्ती’ देखी थी। मैं खुद को 21 साल का समझने लगा था। हालाँकि दिखता मैं 13 जितना था। मुझे फिल्में गुब्बारे जैसी लगती थीं। अच्छी लगी तो गुब्बारे में घर बना लिया। नहीं लगी तो गुब्बारे को आसमान में

पुनर्वसु | चित्र: तविशा सिंह

उड़ा दिया। उन दिनों स्कूल में स्लैम बुक भरवाने का चलन था। मैं पसन्दीदा फिल्म के कॉलम में हमेशा 'रंग दे बसन्ती' लिखता। मेरे होठों के ऊपर तुलसी की सबसे पतली पत्ती जैसी मूँछ आ गई थी। लेकिन स्कूल में डीजे बना फिरता। और सबसे कहता, "डीजे दी इत्थे कोई औकात है।" लोग कहते, "डीजे में बड़ी बात है।"
डीजे, मेरे पसन्दीदा किरदार को आमिर खान ने निभाया था। फिल्म के एक सीन में, जब सारे दोस्त असलम को छोड़ने उसके घर जाते हैं, तो डीजे, सोनिया और सू जीप में रुक जाते हैं। डीजे कहता है, "इधर कॉलेज के गेट के इस तरफ हम लाइफ को नचाते हैं तो दूजी तरफ लाइफ हमको नचाती है...टिम लख लख ते...टिम लख लख।" मैं कॉलेज की बजाय स्कूल बोला करता था। लेकिन सोचता कि क्या सच में लाइफ बदल जाएगी! क्या होगा स्कूल के गेट के उस पार? जब कोई जवाब नहीं मिलता तो मैं भी डीजे की ही तरह अपने सिर को 'टिम लख लख ते...टिम लख लख' पे थिरका लेता।

दूसरी तरफ असलम अपने घर पहुँचता है। उसके अब्बा उसे डाँटते हैं, "तुम्हें अपनी कौम में दोस्त नहीं मिलते?" असलम उनकी बात से इत्तेफाक नहीं रखता और अपने कमरे में चला जाता है। कमरे का दरवाज़ा खुलता है और हम अतीत में प्रवेश करते हैं। वहाँ असलम अश्फाकउल्लाह खान है और डीजे चन्द्रशेखर आज़ाद। अश्फाक बिस्मिल से पूछता है, "कहाँ है मेरा राम?" और कहानी वापस कॉलेज के दोस्तों पर आ जाती है। यहाँ सू अपनी डॉक्युमेंट्री फिल्म के लिए बिस्मिल की कास्टिंग ढूँढ रही है। सू बोलती है, "कहाँ मिलेगा मेरा राम?" और पीछे लक्ष्मण पांडेय नाम का एक व्यक्ति खड़ा है। वो बिस्मिल बनना चाहता है लेकिन उसे असलम बिलकुल पसन्द नहीं है।
मैं सोचता हूँ कि क्यों लक्ष्मण पांडेय असलम को पाकिस्तानी कहकर बुलाता है?
क्या बिस्मिल ने कभी ऐसा कहा होगा अश्फाक को?
नहीं, कभी नहीं। वे तो 'टिम लख लख ते...टिम लख लख' कर अपनी समस्या को हल कर लेते होंगे?
पूरी फिल्म कॉलेज की कहानी और आज़ादी के पहले के समय में आती-जाती रहती है। क्रान्तिकारियों के जीवन में आज़ादी का मकसद था। और कॉलेज के इन दोस्तों के पास कोई मकसद नहीं था। इसलिए भी मैं खुद को कॉलेज के इन दोस्तों से जोड़कर देख पा रहा था।

मुझे भी स्कूल में कोई मकसद नहीं मिल रहा था। मैं क्यों इतिहास की तारीखों को याद करूँ? क्यों विज्ञान की खोज में अपनी जान फँसाए रखूँ?

मुझसे कोई पूछता कि बारहवीं के बाद क्या प्लान है?
मैं मस्ती में कहता, "टिम लख लख ते, टिम लख लख।"
फिर कॉलेज के इन दोस्तों को एक मकसद मिला। और वे अपने दोस्त के लिए भ्रष्टाचार के खिलाफ एक बड़ी साहसी लड़ाई लड़ गए। वो दोस्त जो अब नहीं रहा। ये उसके दोस्त उसके लिए लड़ते हुए मर गए। जैसे क्रान्तिकारी लड़ते हुए शहीद हुए थे। कॉलेज के ये दोस्त जीत गए। सिस्टम हार गया। और क्रान्तिकारी अमर हो गए।

मैंने स्कूल के उन दिनों में कई लक्ष्य और कई मकसदों को ढूँढा। कुछ मिले जिन्हें मैं छोड़ता रहा। कुछ मुझसे दूर भागते रहे। मैं अब भी अपने लक्ष्य की खोज में हूँ।
अगर कहीं मिल जाए तो उसके कानों में हौले से कह दूँ, "टिम लख लख ते, टिम लख लख!!!"







तुम अभी छोटे हो...

मदन लाल ग्रोवर | चित्र: काव्या कागज़ी

हमारे शहर जगाधरी में एक ही सिनेमा हॉल था। जब भी नई पिक्चर रिलीज़ होती थी तो सिनेमा वाले बड़े-बड़े पोस्टर रिक्शे के तीनों तरफ लगाकर शहर की सड़कों पर घुमाते थे। साथ में फिल्म के गाने भी बजते रहते थे। उन दिनों फिल्म देखना केवल बड़ों का अधिकार था। हम बच्चे तो केवल पोस्टर या फिल्मी मैगज़ीन देखकर या बारात में बैंड वालों के गाने सुनकर ही खुश हो लिया करते थे। घरवाले हमें पिक्चर हॉल वाली सड़क पर घूमते हुए देख लेते तो भी मार या डाँट पड़ती थी।

हमारे एक दोस्त ने उन दिनों फिल्म 'दोस्ती' और 'संगम' देखी थी। हमें भी इन्हें देखने की इच्छा थी। पर देखते कैसे? न पास पैसे, न इतनी देर घर से गायब रहने की तरकीब या बहाना ही।

बचपन से ही मेरा पेट बहुत खराब रहता था। मेरे भाई साब मुझे एक स्पेशलिस्ट डॉक्टर को दिखाने बगल के शहर सहारनपुर ले गए। वहाँ डॉक्टर ने शाम 5 बजे का समय दिया। हमारे पास करीबन 5 घण्टे थे। भाई साब ने अपने एक दोस्त से कहा कि मुझे उसके घर या दुकान पर 3 घण्टे के लिए बिठाकर कोई फिल्म देख लेते हैं। वो कहने लगे कि तुम अभी छोटे हो (मैं उस वक्त नवीं क्लास में पढ़ता था।)। और जगाधरी जाकर घरवाले उन्हें इस बात पर डाँटते भी। लेकिन मुझे इतना अच्छा मौका और कहाँ मिलता! मैंने ज़िद पकड़ ली। इस तरह मैंने 15 साल की उम्र में पहली फिल्म देखी। फिल्म थी राजेन्द्र कुमार, माला सिन्हा, जमुना की 'हमराही'। फिल्म देखकर मुझे बहुत मज़ा आया। इतना

बड़ा पर्दा, इतनी भीड़, विशाल स्पीकरों से आती गाने की आवाज़ - जैसे, कोई जादू की गुफा हो जिसमें जुगनुओं ने मिलकर ये चेहरे बना दिए हों। अब तो दिल और भी फिल्में देखने को ललचाने लगा।

हमारे पड़ोस में मेरी उम्र का एक दोस्त रहता था। वो पढ़ाई छोड़कर बर्तन बनाने का काम करने लगा था। वो नई-नई फिल्में देखकर उसके गाने और कहानी सुनाता रहता था। उसने बताया कि हर इतवार को नून शो (छह आने की हॉफ टिकिट) में पुरानी फिल्म दिखाई जाती है। लेकिन इतने पैसे भी मेरे पास कहाँ से आते? मुझे कभी-कभार तीन पैसे मिलते थे जो स्कूल में कुछ खाने में खर्च हो जाते थे। इसलिए एक इतवार को बड़े भाई साब की कमीज़ से मैंने एक रुपया (सोलह आने) चुरा लिया। घर पर बताया कि मैं अपने दोस्त के घर पढ़ाई करने जा रहा हूँ। इस तरह हम थिएटर पहुँचे। वहाँ भी डरते रहे कि कोई परिचित देख न ले। जब फिल्म शुरू हो गई और भीड़ छँट गई तब टिकिट लेकर अँधेरे में घुसे। सीटें फुल थीं। अगली बेंचों पर बैठकर हमने फिल्म देखी।

अब जब भी मौका मिलता पैसे चुराकर इतवार को हॉफ टिकिट वाली फिल्में देख आता। फिल्म देखने-जानने का, बातें करने का शौक बढ़ने लगा। अखबारों से एक्टर/एक्ट्रेस की फोटो काटकर किताबों में रखने लगा। घरवालों को शक हुआ। मेरी किताबों की तलाशी ली गई। पकड़ा गया और सारी कलेक्शन फाड़ दी गई। मार भी पड़ी और हिदायत दी गई कि यह हरकत दुबारा न हो।
मेरे बड़े भाई साब को फिल्मों का बहुत शौक था। वे साइनबोर्ड पेंटिंग का काम करते थे। फिल्मों के पोस्टर भी बनाते थे।
एक दिन वो अपने एक शागिर्द से फिल्म का ज़िक्र कर रहे थे। “सीन में हीरो प्रदीप कह रहा था ‘आपने मुझे जो सामान दिया उसके लिए मैं आपका धन्यवाद करता हूँ।’ तूने देखा उसको कोई सामान दिया किसी ने?” उनकी बातें सुनकर मैं भी सोचने लगा। मैंने पूछा, “वो ये बात किसको कह रहा था?” भाई साब बोले, “प्रदीप कुमार एक प्रोग्राम में गाना गाता है और उसके बाद प्रोग्राम के आयोजक को ये बात कहता है।” मुझे बात समझ में आ गई। हमारे घर में हिन्दी का चलन बहुत कम था। पंजाबी लोग सम्मान और सामान को लगभग एक ही तरह से बोलते हैं। मैंने उन्हें कहा, “हीरो सामान नहीं सम्मान की बात कर रहा था - इज़्ज़त की।” वे बड़े खुश हुए कि कई दिनों बाद मेरी बदौलत उन्हें ये सीन समझ आया। मैंने उन्हें कहा कि आप मुझे हर फिल्म देखने दिया कीजिए। मैं आपको ऐसे सब सीन समझा दूँगा। उन्होंने मुझे घूर के देखा और कोई जवाब नहीं दिया।

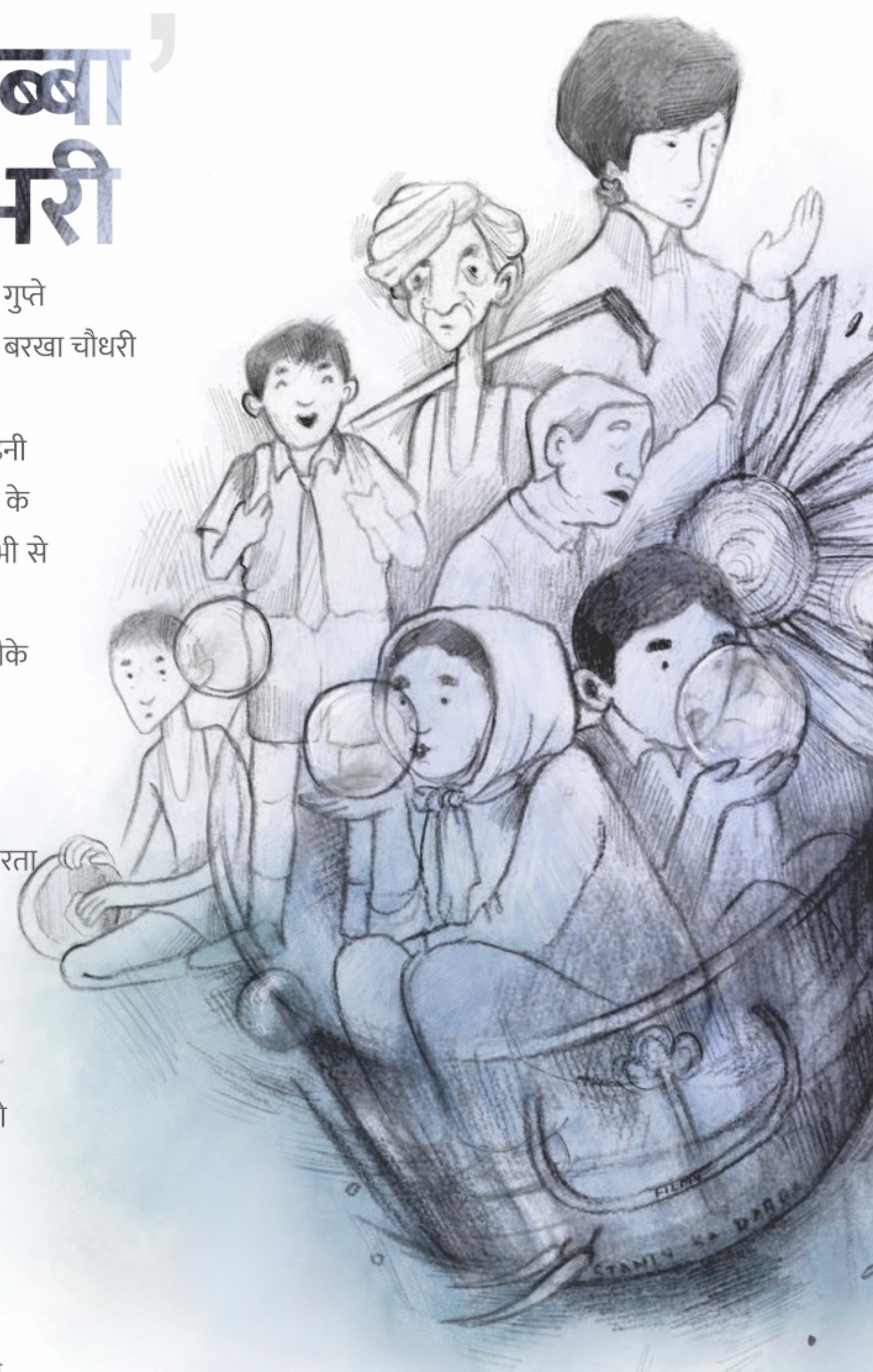




‘स्टैनली का डिब्बा’ बहुत चुनौती भरी फिल्म थी...

पार्थो गुप्ते

चित्र: बरखा चौधरी



इसकी शुरुआत स्कूल से हुई। स्कूल में चाहे कविता पढ़नी होती, नाटक या डिबेट में हिस्सेदारी होती या स्कूल बैण्ड के लिए गाना गाना होता, मैं हर जगह मौजूद होता। मुझे सभी से सराहना भी बहुत मिली। शायद इन्हीं सब के चलते मुझे ‘स्टैनली का डिब्बा’ और ‘हवा हवाई’ में काम करने के मौके भी मिले।

पर आज 18 साल की उम्र में मैं खुद को सिनेमा पर दिलोजान से फिदा शख्स के रूप में ही देखना पसन्द करता हूँ। जिसे अभी बहुत सीखना-समझना बाकी है। ‘स्टैनली का डिब्बा’ और ‘हवा हवाई’ के दिनों को याद करते हुए मुझे वो खुशी, वो उत्साह, वो हर पल कुछ नया जानना याद आता है। मैं उसी को साझा करना चाहता हूँ। मुम्बई के होली फैमिली स्कूल में थिएटर और सिनेमा को समझने-जानने की एक कार्यशाला हुई। इसमें हम कोई पचासेक बच्चों ने हिस्सेदारी की। हम सभी नौ साल के आसपास के थे। यहाँ हम फिल्में देखते, कलाकारों की एक्टिंग के अच्छे-बुरे पक्ष पर बात करते, कुछ सीन या स्थितियों पर अभिनय करते। धीरे-धीरे फिल्म की कहानी बनती गई। ऐसा साल भर तक चला।

मेरे पापा अमोल गुप्ते इस कार्यशाला को करा रहे थे। वे इस फिल्म के निर्देशक भी थे। यहाँ का माहौल काफी बिन्दास था। बिना किसी तनाव के सीखते-सिखाते हुए कभी लगा ही नहीं कि हम काम कर रहे हैं। फिल्म की शूटिंग इन्हीं शनिवार-इतवारों में हुई। स्कूल से एक भी दिन छुट्टी लिए बगैर पूरी फिल्म तैयार हो गई। ‘हवा हवाई’ की शूटिंग भी इसी तरह छुट्टियों में रोज़ पाँच घण्टों में पूरी हुई। स्टैनली के डिब्बे की अपनी खासी चुनौतियाँ थीं। एक सीन में

कलाकार की असलियत ज़ाहिर हो जाती है। हमने इसे किसी सेट में नहीं फिल्माया। एक छोटी-सी होटल सरीखी जगह थी। रात को जब वो बन्द हो जाती हम वहाँ शूटिंग करते। रसोई का प्लेटफॉर्म स्टैनली और उसके दोस्त के सोने के काम आता। वहाँ अकसर कीड़े-मकोड़े, कॉकरोच दिख जाते। हम तो वहाँ सिर्फ शूटिंग कर रहे थे। पर कई बच्चे थे जो वहाँ सचमुच में रहते थे। मेरा मन भर आता। एक सीन में मैं अपनी मृत माँ के पास मोमबत्ती जला रहा था। अचानक मेरी आँखों से आँसू बहने लगे। मैं उस वक्त अपनी मम्मी को बहुत मिस कर रहा था। सबकी दुख-तकलीफें मुझे अपनी लगने लगीं।

उस रात घर आकर मैं अपने मम्मी-पापा से देर तक चिपका रहा। मैं शुक्रगुज़ार था कि वे मेरे साथ थे। यह वो दिन था जब मैं भावनात्मक रूप से पूरी तरह स्टैनली से जुड़ गया था।

'हवा हवाई' एक कपास उगानेवाले किसान के बेटे की कहानी थी। पिता की मृत्यु हो चुकी थी और बेटे का सपना रोलर स्केटर बनने का था। मैं सात साल की उम्र से स्केटिंग कर रहा हूँ। फिर भी एक चैम्पियन की भूमिका निभाने के लिए खूब मेहनत करनी पड़ी। पर उससे भी मुश्किल था अर्जुन हरीशचन्द्र वाघमारे के कैरेक्टर को समझना और ईमानदारी से अदा करना। मैंने विदर्भ के अकोला ज़िले के बाबुल गाँव में कुछ समय बिताया। मैं ऊषा कलम्ब और उसके परिवार के साथ रहा। उसके पिता एक किसान-कवि थे। कपास की फसल बरबाद हो जाने से वो कर्ज़ में डूब गए थे। इस तनाव के चलते उन्होंने अपनी जान ले ली थी। उनकी पाँच बेटियाँ थीं। पत्रकार जयदीप हार्डिकर के साथ मैं यहाँ बहुत घूमा। मैं 12-13 साल के कई बच्चों से मिला जिनके पिता ने खुदकुशी कर ली थी। इनमें से कई बच्चे स्कूल छोड़ छोटी उम्र में खेती-किसानी करने लगे थे। कुछ छोटे-मोटे धन्धों में लग गए थे। साथ में पढ़ाई भी कर रहे थे। वो बच्चे रातों-रात बड़े हो गए थे।

फिल्मों में एक्टिंग करते हुए मैंने बहुत कुछ सीखा। मुझे फिल्म और फिल्म बनाने की प्रक्रिया से प्रेम हो गया। मैं इस बारे में हर बात जान लेना चाहता था। सिनेमा और थिएटर की कार्यशालाओं का बहुत शुक्रिया जिन्होंने मेरा दुनिया की बेहतरीन फिल्मों से तार्रूफ कराया। माजिद मजीदी, चार्ली चैप्लिन, मार्क्स ब्रदर्स, सत्यजीत रे। इससे मेरी सोच, मेरे सीखने को खुराक मिली। यहीं से मैंने सुन्दरता की अपनी समझ पैदा की। इन फिल्मों के कई सीन आज भी मेरे रोंगटे खड़े कर देते हैं। मेरी रूह कँपा जाते हैं।

और फिर पापा से होतीं लम्बी बातें। वो हमेशा कहते हैं कि सिनेमा बॉलीवुड नहीं उससे कहीं ज़्यादा है। वो हमेशा याद दिलाते हैं कि हम सिनेमा को एक कला की तरह देखें। एक ऐसी कला जो हमारी ज़िन्दगियों को ज़्यादा समृद्ध करती है। यह सामाजिक बदलाव, शिक्षा और मनोरंजन का एक सशक्त ज़रिया है। यही वो विचार है जो मुझे लगातार काम करने की ऊर्जा देता है। ज़िन्दगी में कुछ भी कला से ज़्यादा खूबसूरत और गहरा नहीं। केवल कला मात्र नहीं बल्कि जिस तरह से वो इंसानी दिलो-दिमाग पर असर छोड़ जाती है वो सचमुच बेइन्तहा खूबसूरत है।

जीवन में एक अच्छी किताब, एक अच्छे संगीत, क्वांटाइन ब्लेक की लकीरों, इल्ला के गानों, काफ्का के विचार से और क्या अर्थवान होगा! इस बात पर मेरा पूरा और पक्का यकीन है कि हम अपने तज़ुर्बों से ही बनते हैं। मुझे जो कला की खुराक मिली उसके लिए मैं बेहद आभारी रहूँगा। मैं वो हूँ जो मैं देखता हूँ। उन सब का कुछ-कुछ मेरे भीतर समाया है।



मैं वहाँ होता हूँ

जब फिल्म खत्म होती है, और जॉन पियर[1] हमको सीधे देखता है।
जब इल पोस्टीनो[2] का डाकिया मारियो, बीट्रिस के प्रेम में खुद को झोंक देता है।
जब यूमेजी[3] का संगीत हांगकांग के दो बिछड़े प्रेमियों को जोड़ता है,
जब अली और उसकी बहन ज़हरा[4] चादर में चुपचाप अपने खोए जूते को याद करते हैं।
जब सारागीना[5] का बेधड़क नाच देखकर वो बच्चे आह भरते हैं।
जब ग्रेट ब्यूटी[6] में रोम के पादरी, सत्य बनाम सुन्दर की खोज में उतरते हैं।
जब महाश्वेता देवी की द्रौपदी, गुस्से में मुट्ठी कसती है
जब वैन गॉग के सूरजमुखियों में उसकी पीड़ा हँसती है
जब जिमी हेंड्रिक्स वुडस्टॉक की बरसात में अपना गिटार भिगोता है
जब भीमसेन जोशी के ध्यानोबा भजन से रोम-रोम में कम्पन होता है
मैं वहाँ होता हूँ
या मैं नहीं होता हूँ, बिलकुल भी
सिर्फ वो कला होती है
जो मुझे मैं बनाती हूँ।

1 त्रुफो की फिल्म 'फोर हंडरेड ब्लोज़' (चार सौ मुक्के) का बाल नायक। एक तेरह साल के बच्चे की कहानी जिसके परिवार की स्थिति अच्छी नहीं है। इसलिए वो चोरी जैसे कामों में लग जाता है। 'इल पोस्टीनो' 1994 में बनी इटालियन फिल्म। एक पोस्टमैन मारियो और मशहूर कवि पाब्लो नेरूदा की दोस्ती की कहानी है।

2 'इल पोस्टीनो' 1994 में बनी इटालियन फिल्म। एक पोस्टमैन मारियो और मशहूर कवि पाब्लो नेरूदा की दोस्ती की कहानी है।

3 हांगकांग के निर्देशक वोंग.कार.वाई. की मशहूर फिल्म 'इन द मूड फॉर लव' के थीम संगीत का नाम है 'यूमेजी का संगीत'। संगीत का ये हिस्सा संगीतकार शिगेरू उमेबयाशी ने किसी और फिल्म के लिए बनाया था। उस फिल्म का नाम था यूमेजी। इसलिए जब वो हिस्सा दोबारा वोंग की फिल्म में इस्तेमाल किया गया तो उसका नाम 'यूमेजी का संगीत' रख दिया गया।

4 माजिद मजीदी की मशहूर फिल्म 'चिल्ड्रन ऑफ हैवेन' (स्वर्ग के बच्चे) के भाई-बहन अली और ज़हरा। अली एक दिन ज़हरा के जूते ठीक कराने जाता है लेकिन वो जूते उससे खो जाते हैं। अब घर में बताए बिना, सिर्फ एक जोड़ी जूतों से दोनों के स्कूल का काम चलाना है।

5 फेलिनी की फिल्म 8 1/2 का एक दृश्य।

6 पौलो सोरेंटिनो की फिल्म 'ग्रेट ब्यूटी' का एक दृश्य।



(कविता में इस्तेमाल हुई फिल्मों की एक कुंजी। जब वक्त मिले और उम्र थोड़ी बढ़े तो ये फिल्में ज़रूर देखना।)



चित्र : चन्द्रमोहन कुलकर्णी

शेखपुरा की मिलन टॉकीज़ में गुलामी

विपिनकुमार शर्मा | चित्र: हबीब अली



मेरे पिताजी शेखपुरा में स्टेशन मास्टर थे। उन दिनों रेलवे स्टेशन के बाहर के चौराहे पर एक बड़ा-सा होर्डिंग हुआ करता था। उस पर 'रूपमहल टॉकीज़' के पोस्टर चिपकाए जाते थे। जिस दिन कोई नई फिल्म लगती, होर्डिंग के नीचे बच्चों-बड़ों की भीड़ लग जाती थी। टमटम पर फिल्म के पोस्टर और लाउडस्पीकर के साथ उसके प्रचार का कारवाँ चलता। बड़े खास अन्दाज़ में फिल्म के बारे में बताया जाता था।

बहरहाल, शौक के उसी उठान के दौर में शेखपुरा में एक फिल्म लगी - 'गुलामी'। पोस्टर में मिथुन को फौजी बना देख जी कसक उठता था। सारा शहर मिथुन के अन्दाज़ में 'कोई शक!' कह बात करने लगा था।

दिक्कत यह थी कि फिल्म मिलन टॉकीज़ में लगी थी। जो पहाड़ी के दूसरी ओर बुधौली में थी। पिताजी मिलन टॉकीज़ के लिए राज़ी न होते थे।

उन दिनों गणित की ट्यूशन में पास के गाँव का एक लड़का दिलीप पढ़ता था। वो दूसरी बार भी फिल्म देखने को बेचैन था। खैर, फिल्म देखने के लिए रविवार का दिन तय हुआ। अपना-अपना खर्च हमीं को उठाना था। सोचा माँ को मनाकर सवा रुपए माँग लूँगा जो वहाँ की न्यूनतम टिकिट दर थी। लेकिन माँ किसी तरह न पिघलीं। दिलीप नियत समय पर बुलाने आया तो मैंने कह दिया कि नहीं जा पाऊँगा। थोड़ा सोचने के बाद वो बोला कि चलो, मैं दिखा दूँगा। तुम बाद में पैसे दे देना। मैं इस पर भी राज़ी न हुआ क्योंकि जानता था



कि इतने पैसे मेरे पास कभी नहीं होंगे। अन्त में उसने कहा कि चलो, वैसे ही दिखा दूँगा। सम्मानजनक फील न होने के बावजूद मैं उसके साथ हो लिया। हमें मिलन टॉकीज़ पहुँचने में थोड़ी देर हो गई थी क्योंकि हम पहाड़ी से चढ़कर गए थे। टिकिट खिड़की के आसपास का दृश्य देख मेरा दिल दहल गया। लेकिन दिलीप फुटबॉल का खिलाड़ी था। कद-काठी से मज़बूत था। उसने पसीने में तर अपनी शर्ट उतारकर मुझे पकड़ाई और उन्मादी भीड़ में बेखौफ उतर पड़ा। कुछ देर के लात-घूँसे के बाद वह सवा रुपए वाली दो टिकिटें पाने में कामयाब हो गया। उसकी कोहनी पर खून छलक रहा था।



थिएटर के अन्दर पहुँचते ही मेरा दिल बैठ गया। वह एक लम्बा-चौड़ा हॉल था। छत एस्बेस्टस की थी। इसमें रस्म अदायगी के तौर पर कुछ पंखे लटक रहे थे। अभी-अभी एक शो टूटा था। अभी सारे लोग निकल भी नहीं पाए थे कि दूसरे शो वाले घुस पड़े थे। पूरा हॉल मानो उबल रहा था। कोढ़ में खाज यह कि हमें सबसे आगे की लाइन में जगह मिली थी। पूरी फिल्म गर्दन उठाए देखनी पड़ी। बैठने के लिए लकड़ी की बेंच थीं। एक बेंच पर पाँच तो बैठने ही थे। पीछे की जगह 'बालकनी' थी। वहाँ कुर्सियाँ लगी थीं।
मैं निरमा का विज्ञापन देखने में तल्लीन था कि दिलीप ने कहा तुम भी अपनी शर्ट उतार लो। बहुत गर्मी लगेगी। उसने अपनी बनियान भी उतार ली थी। शर्ट तो मेरी भी पसीने से तर थी। सो मैंने उतारकर गोद में रख ली। दिलीप मज़े से बनियान लहराकर पंखा कर रहा था। फिल्म शुरू हुई तो फिर किसी बात का होश नहीं रहा।
इंटरवल में दिलीप ने मुझसे पूछा, "चार आने हैं?" मैंने कहा कि तुम्हें बता ही चुका हूँ मेरे पास कुछ नहीं है। उसने अनमने से कहा कि देते तो बदाम (मूँगफली) ले आते। उसे मेरी बात पर शायद अब तक यकीन नहीं हो रहा था! मैं चुप रहा। हम बाहर निकले। चापाकल (हैंडपम्प) से पानी पीकर दुबारा अपनी जगह पर बैठ गए। गर्मी हद से ज़्यादा थी। दिलीप हाथ और पेट से घिस-घिसकर मैल निकाल रहा था। जब मैंने उसे बरजा तो वह गर्मी का रोना रोते हुए पैंट भी उतारने लगा। इंटरवल से आगे की फिल्म उसने केवल जाँघिया पहनकर देखी। मार-धाड़ का दृश्य आने पर अपनी जाँघों पर वो ऐसे ताल ठोंकता जैसे कबड्डी खेल रहा हो।
जब फिल्म खत्म हुई तो दिलीप ने पूछा, "कैसी लगी फिल्म?" लेकिन मेरे भीतर तो कुछ और ही घुमड़ रहा था। मैंने खीझते हुए पूछा, "अगर थोड़ी गर्मी और बढ़ जाती तो क्या तुम जाँघिया भी उतार देते?"

दिलीप मिथुन के अन्दाज़ में बेफिक्री से हँसते हुए बोला, "कोई शक!"
शक की तो वाकई कोई गुंजाइश नहीं बची थी।







चन्दू की साइकिल

सौजन्य 'उड़ान' (हिंदी फिल्म) 2010
सत्यांशु सिंह | चित्र: एलन शॉ

चन्दू की साइकिल बिलकुल चन्दू जैसी थी,
चलती थी तो चन्दू जैसे चूँ चूँ करती रहती थी,
हैण्डल उसका चन्दू के हाथों जैसा ही हलका था,
पैडल उसके चन्दू के पैरों जैसे ही पतले थे

सीट उसकी चन्दू के पिछवाड़े जैसी चौड़ी थी,
कैरियर उसका चन्दू के करियर जैसा ही छोटा था
पर चन्दू की दोस्त वही थी, वही उसके साथ रहती थी,
चन्दू के भारी वज़न को वो बड़ी आसानी से सहती थी



लेकिन...
ऐसा दिन आया जब साइकिल उसकी टूट गई,
आता देख साँड आगे से चन्दू से वो छूट गई
ठीक नहीं कर पाया जब मोन्टू मकेनिक भी उसको,
चन्दू के डैडी ने उसे बेच दिया कबाड़ी को

फिर चन्दू सब कुछ भूल किताबों में डूब गया ऐसे,
किसी पुरानी ख्वाहिश को सच्चा करना था जैसे
फिर जब चन्दू बड़ा हुआ, तो अपनी फर्स्ट कमाई से
नई साइकिल ले आया, अपनी नई मिली चतुराई से

लेकिन ...
नई साइकिल भी बिलकुल चन्दू जैसी थी
कितनी भी कोशिश कर लो चूँ चूँ करती रहती थी
सीट उसकी चन्दू के पिछवाड़े जैसी चौड़ी थी
कैरियर उसका चन्दू के करियर जैसा ही छोटा था।

मामा के पाजामे पर फिल्म

किशोर पँवार | चित्र: एलन शॉ



गर्मियों की छुट्टियों में हम अकसर मामाजी के यहाँ उज्जैन आते थे। उनका घर नई पेठ में दूसरी मंज़िल पर था। उसकी पत्तरे की छत थी। छत के बीच में कुछ जगह थी जहाँ अटाला भरा रहता था। उनमें कई जगह छेद थे जिनसे धूप की किरणें अन्दर आती थी। इनमें धूल के कण तैरते साफ दिखाई देते। उन दिनों फिल्म देखने के खिलौना-कैमरे मिलते थे। सड़कों पर गुब्बारे, चकरी और कागज़ के साँप बेचने वालों के पास ये कैमरे आठ आने (पचास पैसे) में मिल जाते थे। हम इस कैमरे का बिल्लौरी काँच निकाल लेते। दोपहर में छत के नीचे जाकर छेद से आती किरणों को काँच के टुकड़े पर लेते। इससे रोशनी सामने टँगे पाजामे पर पड़ती। बिल्लौरी काँच के पीछे कैमरे के साथ आई फिल्म के टुकड़े लगाने से सीन पाजामे पर दिखते। सीधी फिल्म को उल्टा किया तो परदे पर उल्टी तस्वीर सीधी हो जाती। ज़रा-से फिल्म के टुकड़े से पाजामे के पर्दे पर बनी बड़ी-बड़ी तस्वीरों को देखने में मज़ा आता। हैरानी भी होती। क्या तुमने कभी ये खेल खेला है?



फिल्म क्विज़

पवन झा



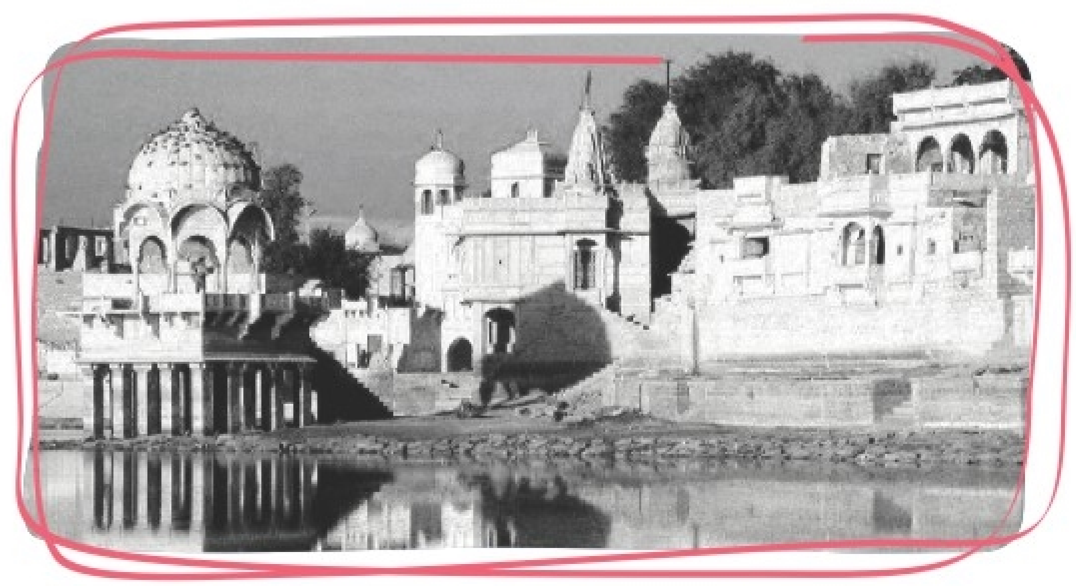
1 2018 में ऑस्कर के लिए भारत की आधिकारिक प्रविष्टि के लिए चुनी गई यह फिल्म, 10 साल की धुनू पर केन्द्रित थी। फिल्म को पिछले साल की सर्वेश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला है। साथ ही धुनू की भूमिका के लिए भी इस कलाकार को सर्वश्रेष्ठ बाल कलाकार का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला है। फिल्म और इस बाल कलाकार के नाम क्या हैं?



2 एक गवैया, एक ढोल बजैया, एक भूत राजा और लड़ाई में उलझे दो देशों की ये कहानी है। बच्चों के लिये बनाई इस फिल्म ने अपने क्राफ्ट और विषय के आधार पर उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार जीता था। आज भी यह फिल्म अपने अनूठे विषय के लिये याद की जाती है। इस फिल्म का नाम बताओ।



3 एक नीली छतरी की कहानी पर आधारित इस फिल्म को 2005 में सर्वश्रेष्ठ बाल फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला था। यह फिल्म किस जाने-माने लेखक की कहानी पर आधारित है? मूल कहानी का नाम क्या है?



4 राजस्थान का यह ऐतिहासिक किला, अपनी बनावट के साथ-साथ एक फिल्म की वजह से भी जाना जाता है। भारतीय सिनेमा के एक महान फिल्मकार ने इस किले की पृष्ठभूमि पर आधारित एक फिल्म का निर्माण और निर्देशन किया। इनके नाम के साथ-साथ उस शहर का नाम भी बताओ जहाँ पर यह किला है।



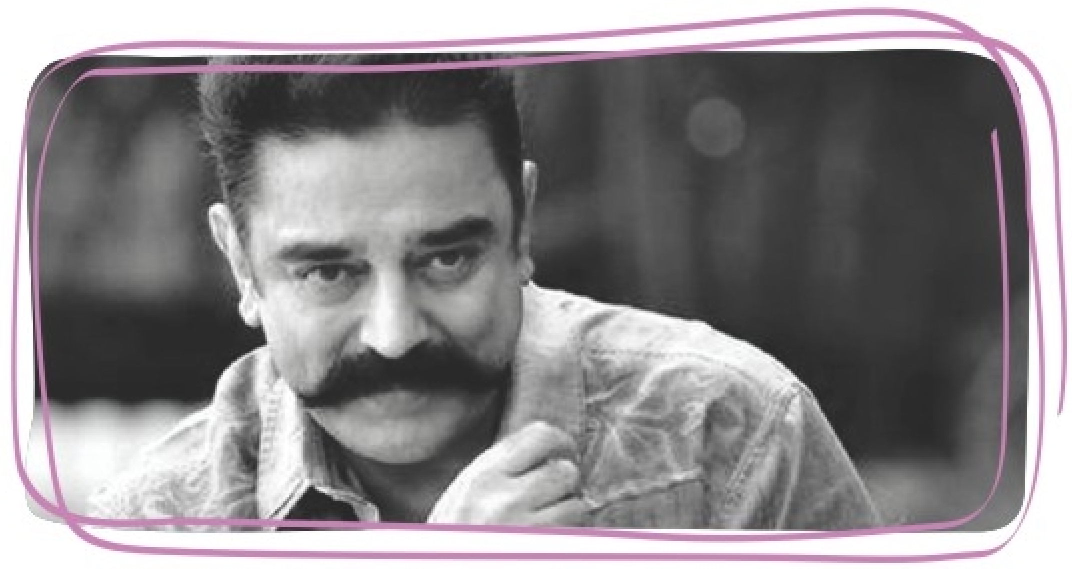
5 ‘तारे ज़मीं पर’ के बाद निर्देशक प्रियदर्शन ने दर्शील सफारी की मुख्य भूमिका वाली एक फिल्म बनाई थी। इसका नाम ‘तारे ज़मीं पर’ के गीत से लिया गया था। यह फिल्म एक मशहूर ईरानी फिल्म मेकर की चर्चित ईरानी फिल्म का रीमेक थी। उस ईरानी फिल्म और उसके निर्देशक का नाम जानते हो? साथ में ये भी बताओ कि हम किस हिन्दी फिल्म की बात कर रहे हैं।



6 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन के लिए गाँधीजी पूरे देश में रैलियाँ कर रहे थे। इन रैलियों में बड़ी संख्या में लोग बड़े उत्साह से भाग लेते दिखे। लेकिन अपनी रैली के लिए गाँधीजी जब शिमला पहुँचे तो उनकी सभा में लोग ना के बराबर थे। पता लगा कि एक बारह साल के गायक को सुनने पूरा जन सैलाब चला गया है। विलक्षण प्रतिभा के इस गायक ने चार साल की उम्र से ही अपनी गायकी से धूम मचानी शुरू कर दी थी। एक बीमारी के चलते मात्र 14 साल की उम्र में इसने दुनिया को अलविदा कह दिया। अगर इसके पास कुछ और उम्र होती तो इसका शुमार निश्चित तौर पर भारतीय संगीत के सर्वश्रेष्ठ गायकों में होता। इस विलक्षण प्रतिभा को हम किस नाम से जानते हैं?



7 ‘तहान’ 2008 में आई एक खूबसूरत फिल्म थी। यह कश्मीर की पृष्ठभूमि में एक आठ साल के लड़के और बीरबल नाम के उसके गधे की कहानी थी। फिल्म का निर्माण और निर्देशन भारतीय सिनेमा के उस दौर के सबसे बेहतरीन सिनेमैटोग्राफर-कैमरा मैन ने किया है। इसी निर्देशक की दो और बाल फिल्मों को राष्ट्रीय पुरस्कार मिले हैं। निर्देशक का नाम बताओ और उनकी निर्देशित दोनों फिल्मों के भी जिन्हें राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार मिले थे।



8 यह चित्र भारतीय सिनेमा के एक महान अभिनेता का है। 6 साल की उम्र में इनकी पहली फिल्म रिलीज़ हुई। इसमें इन्हें सर्वश्रेष्ठ अभिनय के लिए राष्ट्रपति पदक प्राप्त हुआ। इन्होंने बतौर नृत्य-निर्देशक भी कुछ फिल्में कीं। साथ ही फिल्मों में चुनौतीपूर्ण भूमिकाएँ निभाकर भारतीय सिनेमा में अपनी खास जगह बनाई। फिल्मफेयर पुरस्कारों के इतिहास में सबसे ज़्यादा सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार जीतने वाले इस अभिनेता का नाम बताओ। सिनेमा और समाज को उनके योगदान के लिए इन्हें पद्मश्री और पद्मभूषण से भी सम्मानित किया गया है।



9 युवा फिल्मकार जीजो ने हॉलीवुड की मशहूर फिल्म 'जॉज़' देखी और अपने पिता से इस तकनीक पर भारत में फिल्म बनाने का प्रस्ताव रखा। फिल्मों से जुड़े उनके पिता को यकीन नहीं था कि भारत में ऐसी फिल्म बनाई जा सकती है। पर जीजो के मज़बूत इरादे देख पिता फिल्म बनाने के लिए पैसे देने को तैयार हो गए। जीजो ने एक विशाल कमरे जैसा स्टील का घूमता हुआ अनूठा ढाँचा तैयार करवाया। कई महीनों की मेहनत और नई तकनीक के सहारे भारतीय सिनेमा में यह नया प्रयोग सम्भव हुआ। यह फिल्म कई भाषाओं में डब हुई। भारत भर में यह बेहद सफल रही। क्या इस फिल्म का नाम और उसकी मूल भाषा का नाम बता सकते हो? हिन्दी में इस फिल्म का नाम क्या था?



10 मैसूर में जन्मे इस अन्तर्राष्ट्रीय अदाकार को महबूब खान ने क्लासिक फिल्म 'मदर इंडिया' में बिरजू के किरदार के लिए चुना था। लेकिन उनको भारत में काम करने के लिए वर्क परमिट नहीं मिला। 1937 में एक ब्रिटिश फिल्म आई थी 'एलिफेंट बॉय'। इसमें इस बाल कलाकार ने पहली बार मुख्य भूमिका निभाई थी। इस फिल्म की कहानी रुडयार्ड किपलिंग की कहानी पर आधारित थी। इसके बाद इस कलाकार ने 1942 में बनी 'द जंगल बुक' में मोगली का किरदार निभाया। क्या तुम इस कलाकार का नाम बता सकते हो?



11 इस भारतीय मूल के कलाकार ने हॉलीवुड की एक मशहूर फिल्म में 165 विभिन्न किरदार निभाकर एक अनूठा रिकॉर्ड बनाया है। इस कलाकार और फिल्म का नाम पता है?



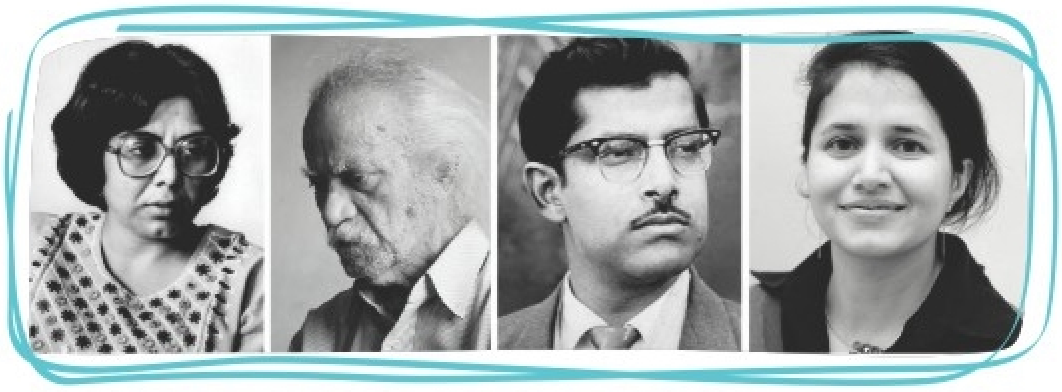
12 अस्सी के दशक में भारतीय फिल्मों के एक सुपर सितारे को एक कॉमिक्स में सुपर हीरो की तरह पेश किया गया। अमिताभ बच्चन को सुपर हीरो की तरह पेश करने वाली इस कॉमिक्स श्रृंखला का नाम याद है?





13 2011 में आई इस बाल फिल्म में बच्चों के नाम बड़े मज़ेदार थे - अफलातून, फटका, साइलेंसर, शाओलिन, टूथपेस्ट...। इस फिल्म के सभी दस बच्चों को सर्वश्रेष्ठ बाल कलाकार के राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। इस फिल्म ने उस साल का सर्वश्रेष्ठ बाल फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार भी जीता था। फिल्म का नाम याद है?

15 चार्ली चैपलिन सिनेमा इतिहास के सबसे महान फिल्म मेकर्स में से एक हैं। उनकी बनाई मॉडर्न टाइम्स, द गोल्ड रश, द ग्रेट डिटेक्टर और सिटी लाइट्स जैसी फिल्मों की गिनती सर्वकालिक सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में होती है। चालीस साल तक अपनी फिल्मों से धूम मचाने के बाद उनको उनकी राजनीति के लिए अमेरिका से देश निकाला दे दिया गया। चैप्लिन स्विटजरलैंड में जा बसे। उसके बाद वे ज़िन्दगी में सिर्फ एक दफे एक खास वजह से अमेरिका लौटे। वो खास मौका क्या था?





14 चलो, दिलीप कुमार की बात करते हैं। इनके पिता फिल्मों में संगीतकार थे। दिलीप ने नौ साल की उम्र में पियानो पर खेलते-खेलते एक धुन छेड़ी। उनके पिता को वह बहुत पसन्द आई। पिता ने एक मलयालम फिल्म में एक गीत इसी धुन पर बनाया। पिता की मृत्यु के बाद केवल 11 साल की उमर में दिलीप ने उस दौर के एक बहुत बड़े संगीतकार के साथ की बोर्ड प्लेयर के रूप में काम करना शुरू किया। पच्चीस साल उन्हें अपनी पहली स्वतंत्र फिल्म मिली। इसके लिए उन्हें सर्वश्रेष्ठ संगीत का राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला। दिलीप को आज हम किस नाम से बेहतर जानते हैं।

16 हिंदी सिनेमा के इतिहास में ये नाम फिल्म मेकिंग की किस एक विधा के विशेषज्ञ माने जाते हैं -

1. रेनू सलूजा 2. एम एस शिन्दे 3. ऋषिकेश मुखर्जी 4. नम्रता राव





रोशन टॉकीज़



मनोज कुमार झा | चित्र: तविशा सिंह

कुछ साल पहले तक डी.वी.डी. का ज़माना था। मेलों और पूज़ाओं में डी.वी.डी. प्लेयर लगाया जाता। बड़ी भीड़ जुटती। बच्चों की चहक देखते बनती थी। फिर सीडी प्लेयर का दौर आया। लोग अपने घर में सीडी प्लेयर रखने लगे थे। उत्तरी बिहार के देहाती इलाकों में बच्चों के लिए फिल्में दुर्लभ थीं। रंगों, गतियों और ध्वनियों की दुनिया इन्हें लुभाती। चौक पर कुछ सीडी, कैसेट की दुकानें खुल गई थीं। भाड़े पर कैसेट मिलते। पान की गुमठी वाले भी कैसेट रखने लगे थे। लोग धार्मिक और लोकप्रिय फिल्म भाड़े पर ले जाते। कुछ खरीदकर भी ले जाते। जिन्होंने पहले फिल्में नहीं देखी थीं, वो कहानी समझ न पाते।
बैठे हुए लोग एक दूसरे को समझाते। बच्चे भी इसमें शामिल रहते। कहानी समझ में आए न आए चित्र इन्हें लुभाते। कुछ दृश्य इनके मन में बस जाते।



ऐसा ही एक बच्चा था रघू। वह अकसर स्कूल नहीं जाता। रघू फिल्मों का ज़बरदस्त शौकीन था। फिल्मों के कैसेट पर नाम अँग्रेज़ी में लिखा होता तो वह चित्र देखकर बता देता कि वह कौन-सी फिल्म है। गाँव में रोशनजी ने परचून की दुकान खोली थी। वो दो कमरों की दुकान थी। एक कमरे में परचून का सामान था। दूसरे में ऑडियो टेप रिकॉर्डर, टीवी और सीडी प्लेयर थे। उस दुकान में कुछ कुर्सियाँ और एक चौकी भी थी। दुकान कम ही चलती। जब ग्राहक नहीं रहते तो रोशनजी कुर्सी या चौकी पर आराम करते। वो भी फिल्मों के शौकीन थे। कैसेट लगाकर छोड़ देते। ग्राहक को निपटाने के बाद जब मौका मिलता फिल्म देखने आ बैठते। रघू दरवाज़े के पास खड़ा फिल्में देखता रहता। कभी-कभी कुर्सी पर बैठ जाता। दुकान में थोड़ी-बहुत मदद भी कर देता। वह बहुत कम बोलता। पता नहीं फिल्मों में वह क्या ढूँढता रहता। उसे सैकड़ों फिल्मों के नाम याद थे। वह सिनेमा हॉल में कोई फिल्म देखना चाहता। हॉल शहर में था। शहर दूर था। वह शहर जाने का मौका तलाशता रहता। मगर कोई संयोग नहीं बैठ रहा था। शहर के लोग जब गाँव आते तो वो हॉलों के बारे में पूछता। अभी रोशनजी की दुकान ही उसके लिए हॉल थी।



वह अँधेरे में फिल्म देखना चाहता था। घुप अँधेरे में, जैसा उसने सरस्वती पूजा के दिन देखा था। एक दिन जब रोशनजी दुकान बन्द कर रहे थे तो उसने हाथ से इशारा किया। उसके बाद जो कहा उससे रोशनजी हक्का-बक्का रह गए। उसने कहा कि आप बाहर से ताला लगा दीजिए, मुझे भीतर ही रहने दीजिए। दुकान की रखवाली भी कर लूँगा। रोशनजी हैरान थे। उनके मन में तरह-तरह के खयालात आने लगे कि कहीं इसकी रात में तबियत खराब न हो जाए। फिर इसका बाप भी नाराज़ होगा कि हमारे बच्चे को बिगाड़ रहे हैं। रोशनजी ने आज-कल, आज-कल कहके कई दिन टाले। मगर रघू ज़िद पर अड़ा रहा। रोशनजी के मन में द्वन्द्व हुआ। रखवाली का प्रलोभन भी मन में जगा। उन्होंने रघू को भीतर छोड़ के बाहर से ताला जड़ दिया।

रघू सुबह बहुत खुश था। रात भर उसने फिल्म देखी थी। दस-पन्द्रह दिनों तक ऐसे ही चलता रहा। फिर रघू के पिता आ गए। वे कलकत्ते में रिक्शा चलाते थे। बहुत बीमार होकर आए। आने के बाद जब भर रात फिल्म देखने की कहानी रघू की माँ ने सुनाई तो वे खीज से भर गए। यह लड़का पढ़ा भी नहीं। ऊपर से फिल्म का ऐसा चस्का लग गया है। मैं बीमार हूँ। गुस्साकर डाँटना चाहते तो खों खों कर खाँसी चलने लगती। अपने चाचा से रघू की बहुत पटती थी। कुछ दिन बाद चाचा ने रघू को बुलाकर कहा, "देखो बेटा, अब तुम्हारे बाप से रिक्शा खींचने का काम नहीं हो पाएगा। ज़मीन-जायदाद तो है नहीं। तुम्हीं को कुछ करना होगा।"
"मैं कलकत्ता चला जाऊँ?" रघू ने पूछा।



"हाँ," चाचा ने कहा। बाप थोड़ा असमंजस में था फिर भेजने का मन बना लिया। अब रघू कलकत्ता में है। रात को भी रिक्शा चलाता है। पता नहीं फिल्में देखता है कि नहीं!















पाँचवीं की वो डबिंग

गुलसारिका ठाकुर | चित्र: एलन शॉ



'ममता गाबय गीत' मैथिली की यह पहली फिल्म 1968 में बननी शुरू हुई थी। शूटिंग-एडिटिंग भी हो चुकी थी। पर किन्हीं कारणों से नहीं बन पाई। मेरे पिता रवीन्द्र नाथ ठाकुर इसके गीतकार और सहायक निर्देशक थे। 1980 में उन्हें लगा कि इस फिल्म पर दुबारा काम शुरू होना चाहिए। इसे रिलीज होना चाहिए। तो किसी तरह फिल्म के अधिकार, उसके प्रिंट वगैरह हासिल किए गए। देखने पर पता चला कि कहानी तो अधूरी है। और कलाकारों की आवाज़ भी साफ सुनाई नहीं दे रही। तो कहानी के समानान्तर एक और कहानी बुनी गई। पटना रंगमंच से जुड़े कुछ कलाकारों से बात हुई। और सब मिलकर फिल्मी नगरी बम्बई पहुँच गए।

डबिंग का काम डिम्पल थिएटर में शुरू हुआ। यह थिएटर हिन्दी के मशहूर कलाकार राजेन्द्र कुमार का था। उस समय फिल्म की रील के छोटे-छोटे टुकड़े काटे जाते थे। डबिंग थिएटर में बहुत बड़ी स्क्रीन लगी होती थी। "रेडी... सीन नम्बर वन... टेक वन", डायरेक्टर के इतना बोलते ही परदे पर वह सीन आ जाता था। जिस कलाकार को आवाज़ देनी होती उसके मूवमेंट को गौर से देखा जाता था कि कब उसके होंठ हिलेंगे। इसके लिए दादा (मेरे पिता) ने हम सब को गिनती करना सिखाया था। हिरोइन की इंट्री हुई। उसने कुछ देखा। चेहरे पर कुछ सेकंड भाव आए। होंठ हिले। ऐसे में उन कुछ सेकंड को गिन लेने से आसानी होती थी। फिर पुराने अस्पष्ट डायलॉग और उसके होंठों को जोड़कर बार-बार सुनना होता था। इससे पता चलता था कि वह कहाँ रुक रही है और कहाँ एक साँस में बोल रही है।

तय यह होने लगा कि किस किरदार की आवाज़ कौन डब करेगा। उस समय तक मैथिली बोलने वाले प्रोफेशनल कलाकार ज़्यादा नहीं थे। फिल्म की मुख्य किरदार थी



सुखिया जिसे अज़रा ने निभाया था। पटना वाले कलाकारों की आवाज़ का उस किरदार से मिलान नहीं हो पा रहा था। तब दादा ने मेरी बड़ी बहन को ट्राई किया। यह उनका पहला अनुभव था। उनकी आवाज़ अज़रा पर बहुत फबी। और तय हो गया कि वही डब करेंगी। बिहार के थिएटर आर्टिस्ट प्यारेमोहन सहाय इस फिल्म के हीरो थे। अब तक वे दादा की उम्र के हो चुके थे। वे बिना रीटेक दिए फटाफट सीन दर सीन आगे बढ़ते गए।

फिर बारी आई विलेन की। फिल्म में विलेन की भूमिका कमलनाथ सिंह ठाकुर ने निभाई थी। पर अब वे बिहार के जाने-माने नेता बन चुके थे। उन्हें एक विलेन को आवाज़ देना अपनी प्रतिष्ठा के खिलाफ लगा। हालाँकि परदे पर तो अब भी वे ही विलेन थे। आखिरकार विलेन लालाजी को मेरे चाचा ने आवाज़ दी। वे रेडियो अनाउंसर थे।

एक दिन दादा ने मुझे बुलाया और एक सीन दिखाया। वे साइड हिरोइन लता बोस वाले सीन थे। उन्होंने कहा, “इसकी आवाज़ तुम्हें देनी है।” मेरे हाथ-पैर सुन्न पड़ गए। दादा से तब डर भी बहुत लगता था। पहले सीन में ही गड़बड़ हो गई। फिल्म में लता बोस की उम्र 22 साल थी। और मेरी उम्र 12 साल थी। पाँचवीं में पढ़ती थी। आवाज़ में कच्चापन था। दादा को रीटेक्स बिलकुल बर्दाश्त नहीं थे। उस महँगे थिएटर का प्रति घण्टे का भुगतान करना पड़ता था। कई रीटेक्स के बाद भी जब बात नहीं बनी तो दादा सिर थामकर बैठ गए। फिर साउंड रिकॉर्डिस्ट शर्माजी आए। उन्होंने दादा को समझाया कि एक तो बच्ची से बड़ों वाले सीन करवा रहे हो। ऊपर से डाँट भी रहे हो। वो कैसे करेगी? दादा को शायद बात समझ आई। उस रात वे हारमोनियम लेकर बैठे। मुझसे कहा, ‘स’ लगाओ। नीचे के सुर लगाओ। बेस बनाओ...हाँ यही...यही ये जो तुम्हारे गले से थोड़ी मोटी आवाज़ निकल रही है न, उसी में तुमको बोलना है।” बात मेरी समझ में भी आ गई। लेकिन वह सब आसान नहीं था। साइड हीरो को आवाज़ दे रहे थे थिएटर आर्टिस्ट ललितेश। हेडफोन लगाते ही वे बोलते, “देख सरीकिया, रीटेक भेलौ ने त दांत तोड़ि देबौ।” (रीटेक हुआ तो दाँत तोड़ दूँगा)। खैर, मेरे दाँत टूटे बगैर डबिंग पूरी हो गई।

डबिंग हो जाने के बाद एडिटिंग टेबल पर सीन जोड़े गए। टेबल पर छोटी-सी स्क्रीन लगी होती थी। फिल्म की रीलों को उस पर चलाया जाता था। सीन आगे-पीछे करने के लिए एक हैंडलनुमा चीज़ होती थी। दादा एडिटर से बोलते जाते “यहाँ से यहाँ तक काट दो।” “यहाँ नया वाला सीन जोड़ दो।” और फिल्म बनती जा रही थी।

उसी दौरान एक दिन डिंपल थिएटर के बगीचे में राजेन्द्र कुमार से मुलाकात हुई। उनके साथ एक आदमी था। उसने राजेन्द्र कुमार को बताया कि ये लोग बिहार से आए हैं। कमाल की टीम है। पापा डायरेक्टर हैं। बिटिया हीरोइन को डब कर रही है। भाई विलेन को। बेटा प्रोडक्शन मैनेजर है। राजेन्द्र कुमार ने मुझसे पूछा, “हमारे साथ काम करोगी?” मैंने आँखें झपकाईं और वहाँ से भाग गई।

‘ममता गाबय गीत’ 1982 में परदे पर आई। कहीं चली, कहीं नहीं चली। लेकिन मैथिली की पहली फिल्म में काम करने वालों में हमारा नाम दर्ज हो गया।

हैप्पीनेस क्लास

ज़ेबा खातून | चित्र: हबीब अली



उस रोज़ मैडम नहीं आई थीं। और हमारा पढ़ने का दिल भी नहीं था। वैसे भी अगर क्लास में मैडम न हों तो पढ़ाई किस बात की! ऐसे में मौज-मस्ती रहती है। शोरगुल मचा रहता है। हम सब बातों में लगे थे। एकाध बच्चे ही थे, जो अपना अधूरा काम पूरा कर रहे थे। बीच-बीच में बातें भी चालू थीं। कुछ बच्चे डेस्क पर बैठे थे, कुछ उसके नीचे। और कुछ क्लास के दरवाज़े पर खड़े होकर बातें कर रहे थे। आवाज़ सुनकर बगल वाली क्लास की टीचर आ गईं। सारी लड़कियाँ क्लास के अन्दर भागने लगीं। एक-दूसरे को पीछे करने में धक्का-मुक्की होने लगी। जिसे आगे वाले गेट से जगह नहीं मिली वो पीछे वाले गेट से घुसने लगे। डेस्क के ऊपर धम-धम करते हुए कोई किसी की जगह पर बैठ गया तो किसी के ऊपर लद गया। कई तो जूते घसीटते खिस-खिस की भद्दी आवाज़ करते भागे। जो बच्चे पहले से ही क्लास में थे, उन्हें जब मैम के आने का पता चला तो वो हड़बड़ी में कोई भी कॉपी-किताब लेकर बैठ गए।

मैडम क्लास में आई और डाँटने लगीं, "मॉनीटर कौन है? खड़ी हो जाओ! किसका पीरियड है? जाओ बुलाकर लाओ! शर्म नहीं आती, इतने बड़े हो गए हो! पेपर आने वाले हैं। ये नहीं कि बैठकर पढ़ाई करें। खुद तो पढ़ नहीं रहे, औरों को भी पढ़ने नहीं दे रहे। अगर अब मुझे तुम्हारी क्लास से आवाज़ सुनाई दी तो प्रिंसिपल ऑफिस के बाहर लेकर चलूँगी।" मैम के जाते ही सभी बच्चे पीछे-पीछे बाहर चले गए।



इस ऊधम के बाद बात चली कि चलो यार, गाने गाते हैं! आखिरी पीरियड था सो हमें पूरे चालीस मिनट मिल रहे थे मस्ती करने के। "हाँ, तो कौन गाना गा रहा है!! चल यार कशिश, तू गाना सुना।"

"नहीं-नहीं, मुझे गाना नहीं आता। साक्षी से बोलो।" इस तरह ना-नुकर के बाद तय हुआ कि अन्ताक्षरी खेली जाए। सब राज़ी हो गए। देखते ही देखते दो टीमें बन गईं। पहली टीम की एक लड़की ने 'म' से गाया - माही वे! माही मैनू छडियो ना कि तेरे बिना दिल नइयो लगदा...। पीछे-पीछे पूरी टीम गाने लगी। गाने क्वेश्चन-आन्सर की तरह याद नहीं करने पड़ते। सबको रटे रहते हैं। सब गाने में मगन हो गए।

दूसरी टीम की बारी आई 'द' से गाने की। दिल में हो तुम, साँसों में तुम... पहली नज़र का इशारा..। तभी शिवानी ने मुँह बनाते हुए कहा, "ओहो! कौन है ये दिल में तुम्हारे?" उसका इतना बोलना ही था कि उसने झट गाना बन्द कर दिया और कहने लगी, "जाओ, मैं नहीं गा रही। और ना खेल रही।" फिर सब उसे पकड़-पकड़ कर मनाने लगीं। मौका देखकर दो लड़कियों ने कपल डांस शुरू कर दिया और धीरे-धीरे गाने लगीं, "गोरी तू बड़ा

शर्माती है। तुझको शर्म क्यूँ आती है.." दूसरी वाली ने अपना हाथ छुड़ाते हुए कहा, "चल पागल, जब देखो तब चिपकती रहती है...।"

अन्ताक्षरी के सारे गाने नई फिल्मों के थे या एल्बमों के थे। ज़्यादातर प्रेम गीत थे। बार-बार सुने जाने से ये ज़हन में बस जाते हैं। एक तो म्युज़िक अच्छा, ऊपर से इन के साथ एक खास तरह की अदा जुड़ी होती है। वो इतनी फेमस हो जाती है कि गाना जहाँ भी बजे सब उसके साथ शुरू हो जाते हैं। थोड़ी देर बाद सब भूल गए थे कि अन्ताक्षरी का गेम चल रहा है और कोई टीम भी है। दोनों टीमें नए-नए गानों की एक-दो लाइनें गाने लगीं। रैप सॉन्ग की भी कमी नहीं थी। अलीना तो रैप के साथ-साथ एक्टिंग भी करने लगी। मानो, गाने की लाइनें उसी के लिए हों। कहीं से फोन मिल जाता तो ये टिक-टॉक की शूटिंग भी चालू कर देते। तभी एक ने कहा, पहले तो कोई गाना गाने को तैयार ही नहीं हो रहा था। अब देखो सब गायक हुए जा रहे हैं। अरे यार! अकेले गाया नहीं जाता। अकेले में आवाज़ अजीब-सी लगती है। जब सब गाते हैं तो आवाज़ अच्छी सुनाई पड़ती है।

सबने कहा, "आज तो हमारी बिन बताए हैपीनेस की क्लास हो गई जो कि हमारे जूनियर करते हैं। हम तो रोज़ाना EMC के पहले पीरियड में थोड़ा बोर होते हैं।" इतने में छुट्टी की घण्टी बजी। सब अपना-अपना बैग लेकर भागने को तैयार हो गए। कई लड़कियों ने पहले अपने बाल ठीक किए फिर ढाँटा बाँधने लगीं। "मुझे छोड़ के जो तुम जाओगे..." गाना सबकी ज़बान पर था। बस आवाज़ धीमी हो गई थी। जिनका आई लाइनर फीका पड़ चुका था वो बैग से लाइनर निकाल कर लगाने लगीं। स्कूल के गेट पर भीड़ लग गई थी। आगे से पीछे तक सब एक ही ड्रेस में थे। दूर से देखो तो बस सिर ही सिर दिखाई दे रहे थे। ई-रिक्शा पर चार के बदले आठ सवारियाँ बैठ कर निकलने लगी थीं।

- ज़ेबा खातून, ग्यारहवीं की छात्रा हैं। वे सुन्दरनगरी, नई दिल्ली में रहती हैं। अंकुर से जुड़ी हैं। इन्हें गानों से सख्त एलर्जी है। लेकिन मानती हैं कि इसका इलाज किसी हाकिम के पास नहीं। सिर्फ गानों के ही पास है।

फिल्म क्विज़ के उत्तर 1 - विलेज रॉकस्टार्स (2018) मनिता दास 2.रस्किन बॉन्ड - बिनियाज़ ब्लू अम्ब्रेला 3. गूपी गायन बाघा बायन (1969) सत्यजीत राय 4. मिस्टर इंडिया (1987) सलीम-जावेद 5. सोनार किला (1969) जैसलमेर 6. चिल्ड्रन ऑफ हैवन, माजिद मजीदी (1997) बम बम भोले (2010) 7. संतोष सिवन हेलो (1996) मल्ली (1998) 8. मास्टर मदन 9. कमल हसन 10. माय डियर कुट्टीचेतन (मलयालम -1984), छोटा चेतन 11. दीप रॉय - चार्ली एंड द चॉकलेट फैक्ट्री (2005) 12. साबू दस्तगीर 13. सुप्रीमो 14. चिल्लर पार्टी (2011) 15. ए. आर. रहमान 16. 1972 में चार्ली चैप्लिन को ऑस्कर पुरस्कारों में लाइफ टाइम अचीवमेंट अवार्ड से सम्मानित किया गया। यह उनकी अन्तिम अमेरिका यात्रा थी।



देखने लायक आठ फिल्में

प्रज्ञान मोहन्ती | चित्र: सौम्या शुक्ला



पुटाणी पार्टी | कन्नड़

क्या होता है जब बच्चे सरकार चलाते हैं? कर्णाटक के एक गाँव में बसी यह फिल्म इस सवाल का जवाब ढूँढती है। ग्राम पंचायत की मदद से गाँव के कुछ बच्चे एक बाल समिति का गठन करते हैं और अपने आसपास की बुनियादी दिक्कतों का हल मिलजुल कर निकालते हैं। ईमानदारी, लगन और एकता से काम करते ये बच्चे बिना डरे भ्रष्ट अधिकारियों से जवाब माँगते हैं और सिस्टम में अपनी जगह बनाते हैं।

फोटो | हिन्दी

फोटो एक ग्यारह साल का शान्त लड़का है। वो अपनी कल्पना की दुनिया में खोया रहता है। वो न तो पढ़ाई में तेज़ है और न ही उसके दोस्त बन पाते हैं। एक दिन उसके शहर में एक फिल्म यूनिट शूटिंग के लिए आती है। और फोटो को अपनी क्रिएटिविटी को समझने और उसका इस्तेमाल करने का रास्ता मिल जाता है। फिल्मों की जादुई दुनिया उसके रंग, संगीत, लाइट और साउंड और इनके पीछे की कला और मेहनत को देख फोटो प्रेरित होता है और बड़े होकर फिल्म निर्देशक बनने का फैसला करता है। सिनेमा और उसके इतिहास से जुड़े तथ्यों को इस फिल्म में दिलचस्प तरीके से प्रस्तुत किया गया है।



तोरा | असमी

सात साल की तोरा और उसके पड़ोस में रहने वाला बछड़ा, मोन पक्के दोस्त हैं। किसी वजह से तोरा के पिता और उनके पड़ोसियों के बीच कहा-सुनी हो जाती है। तोरा और मोन की दोस्ती खतरे में पड़ जाती है। लेकिन बड़ों के मनमुटाव को भूलकर तोरा अपने दोस्त का साथ देती है। यह फिल्म इंसान और जानवर के बीच के रिश्ते को दर्शाती है।

धूमकेतु | हिन्दी

कैलाश दत्त एक शौकिया एस्ट्रॉनॉमर हैं। इनकी धूमकेतुओं (कॉमेट) पर रिसर्च करने में बेहद दिलचस्पी है। एक दिन वे अपने पोता-पोती समेत एक ऐसे धूमकेतु के बारे में पता लगाते हैं जो पृथ्वी को तबाह कर सकता है। किस तरह दत्त और अन्य वैज्ञानिक मिलकर धरती को बचाने की कोशिश करते हैं। धूमकेतु भारत के जानेमाने एस्ट्रोफिज़िसिस्ट जयन्त नार्लीकर की एक कहानी पर आधारित है। यह फिल्म ब्राह्मण्ड से जुड़े अंधविश्वासों पर बात करती है और तार्किक और वैज्ञानिक सोच को बढ़ावा देती है।

हारून अरुण | गुजराती

हारून बॉर्डर पार रहने वाला एक पाकिस्तानी मुस्लिम लड़का है। वो अपने दादा से बिछड़कर गुजरात के कच्छ के एक गाँव में आ पहुँचता है। एक हिन्दू परिवार उसकी देखभाल करने लगता है। गाँव वाले उसका नाम अरुण समझ कर उसे हिन्दू मान लेते हैं। प्यार और अपनेपन से हारून सबका दिल जीत लेता है। पर जब उसके नाम और धर्म का लोगों को पता चलता है तो सारा गाँव उसे शक की नज़र से देखने लगता है। क्या इंसान की पहचान सिर्फ उसके देश और धर्म से होती है? यह फिल्म लोगों के बीच धर्म, राष्ट्रीयता और देश की सीमाओं की दीवारों को तोड़ने की कोशिश करती है।

सबुज द्वीपेर राजा | बंगाली

एक उल्का के गिरने से दूर अण्डमान के एक टापू पर अजीब-सी ऊर्जा पैदा होने लगती है। द्वीप के मूल निवासियों को इस ऊर्जा की खासियत का अन्दाज़ा नहीं है। यह जान कर एक आपराधिक गिरोह इसे चुराने की कोशिश करता है। इनको रोकने के लिए सरकार की तरफ से राजा रॉयचौधरी अण्डमान की ओर रवाना होते हैं। उनके साथ होता है उनका तेरह साल का भतीजा, सन्तु। 1979 में बनी यह ज़बरदस्त एक्शन-एडवेंचर ड्रामा फिल्म अण्डमान-निकोबार द्वीपसमूह के मूल निवासियों पर बनी पहली फिल्मों में से एक है।

एक अजूबा | हिन्दी

पढ़ाई में कमज़ोर रतन को पता लगता है कि उसकी पढ़ाकू बड़ी बहन को एक चमत्कारी शक्ति हासिल है। इसके इस्तेमाल से वो भी अच्छे नम्बर से पास हो सकता है। रतन सोच में पड़ जाता है कि क्या थोड़े से नम्बरों के लिए उसे अपनी बहन से चोरी करनी चाहिए? क्या बिना पढ़े-लिखे बस शक्ति की मदद से वो पास हो जाएगा?

पारी | मणिपुरी

'द डांसिंग डियर' कहलाने वाले मणिपुर के सांगाई मृग पर बनी ये फिल्म इस दुर्लभ जीव के संरक्षण के बारे में जानकारी देती है। इंसानी लालच और लापरवाही से जो पर्यावरण और जीव-जन्तुओं को भारी नुकसान हो रहा है, वह फिल्म में एक स्कूली डांस-ड्रामा के ज़रिए बताया गया है। यह भी बताया गया है कि मानव और जीव एक-दूसरे से जुड़कर ही प्रकृति को बचा सकते हैं।





बाइसिकल थीव्स

1948, निर्देशक: विटोरीयो डी सीका

वरुण ग्रोवर | चित्र: एलन शॉ



सीधी-सी कहानी है। दूसरे विश्व युद्ध के बाद का इटली है। गरीबी और उदासी धूप की तरह पूरे देश में छाई हुई है। रोम में रहने वाले अन्तोनीयो को नौकरी चाहिए। लेकिन नौकरी ऐसी मिली है जिसके लिए साइकिल होना ज़रूरी है। उसकी पत्नी मारिया बड़ी मुश्किलों से घर का सामान बेचकर साइकिल के पैसे जुटाती है। काम के पहले ही दिन अन्तोनीयो की साइकिल चोरी हो जाती है। वह अपने दस साल के बेटे ब्रूनो के साथ साइकिल खोजने निकलता है - पहले चोर बाज़ार फिर शहर के बाकी बदनाम इलाकों में। पिता और पुत्र हताशा और उम्मीद के बीच झूलते रहते हैं। अन्तोनीयो ने तो शायद दुनिया के बहुत दुख झेले हैं। ब्रूनो के लिए बिखरती मानवता का ये पहला अनुभव है।



सब जगह से हार कर अन्त में अन्तोनीयो को सड़क किनारे एक लावारिस साइकिल दिखती है। उसे पता है कि चोरी बुरी चीज़ है लेकिन उसकी ईमानदारी उसकी भूख से टकरा रही है। अन्तोनीयो उस साइकिल को चुराने की कोशिश करता है लेकिन पकड़ा जाता है। साइकिल का मालिक अन्तोनीयो की हालत देखकर उसे जाने देता है। अन्तिम दृश्य में अन्तोनीयो और ब्रूनो भीड़ के साथ चल रहे हैं - टूटे हुए, शर्मिन्दा। साइकिल नहीं है लेकिन दुनिया में अभी भी करुणा है, उम्मीद है, एक और मुश्किल दिन है जिसका सामना करने निकली एक भीड़ है।



एक सरल-सी कहानी हमें कहाँ-कहाँ ले जाती है। सही और गलत की परिभाषा, इतिहास का एक पाठ, युद्ध का असली चेहरा जो बारूद का धुआँ छँटने के बाद दिखता है, और एक परिवार का महत्व।

फिल्में जितनी हँसाने या मन बहलाने के लिए होती हैं उतनी ही दिल तोड़ने और रुलाने के लिए भी। फिल्में कहानी के ज़रिए वो कहती हैं जो हमें एहसास दिलाता है कि हम कितने कमज़ोर हैं,





ताकतवर हैं, संवेदनशील है, फूहड़ हैं, बदतमीज़ हैं। लेकिन सबसे ज़रूरी बात - हम अकेले नहीं हैं। दुनिया भर में, दूर-दूर के देशों में, ऐसे देशों में जहाँ लोग भाषा भी हमारी नहीं बोलते, ऐसे लोग हैं जो हमारे जैसी खुशियों से खुश हो रहे हैं, हमारे जैसे दुखों से टूट रहे हैं।

फिल्में हमें बाँधती हैं - एक अदृश्य चाँदी की डोर में। और खड़ा कर देती हैं एक बहुत ऊँची छत पर। हलके से झोंके में उड़ना सीख जाते हैं हम किसी नई, करारी पतंग की तरह।



आर. एन. आई. नम्बर - DELHIN/2018/76181 द्विमासिक

THE END

मुद्रक तथा प्रकाशक संजीव कुमार द्वारा
तक्षशिला पब्लिकेशन - तक्षशिला एजुकेशन सोसाइटी
की इकाई के लिए मल्टी कलर सर्विस, शेड नम्बर 92, डी.एस. आई.डी.सी. ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज़ 1, नई दिल्ली 110020 से मुद्रित एवं सी-404. बेसमेंट, डिफेंस कॉलोनी, नई दिल्ली 110024 से प्रकाशित
संपादक - सुशील शुक्ल

